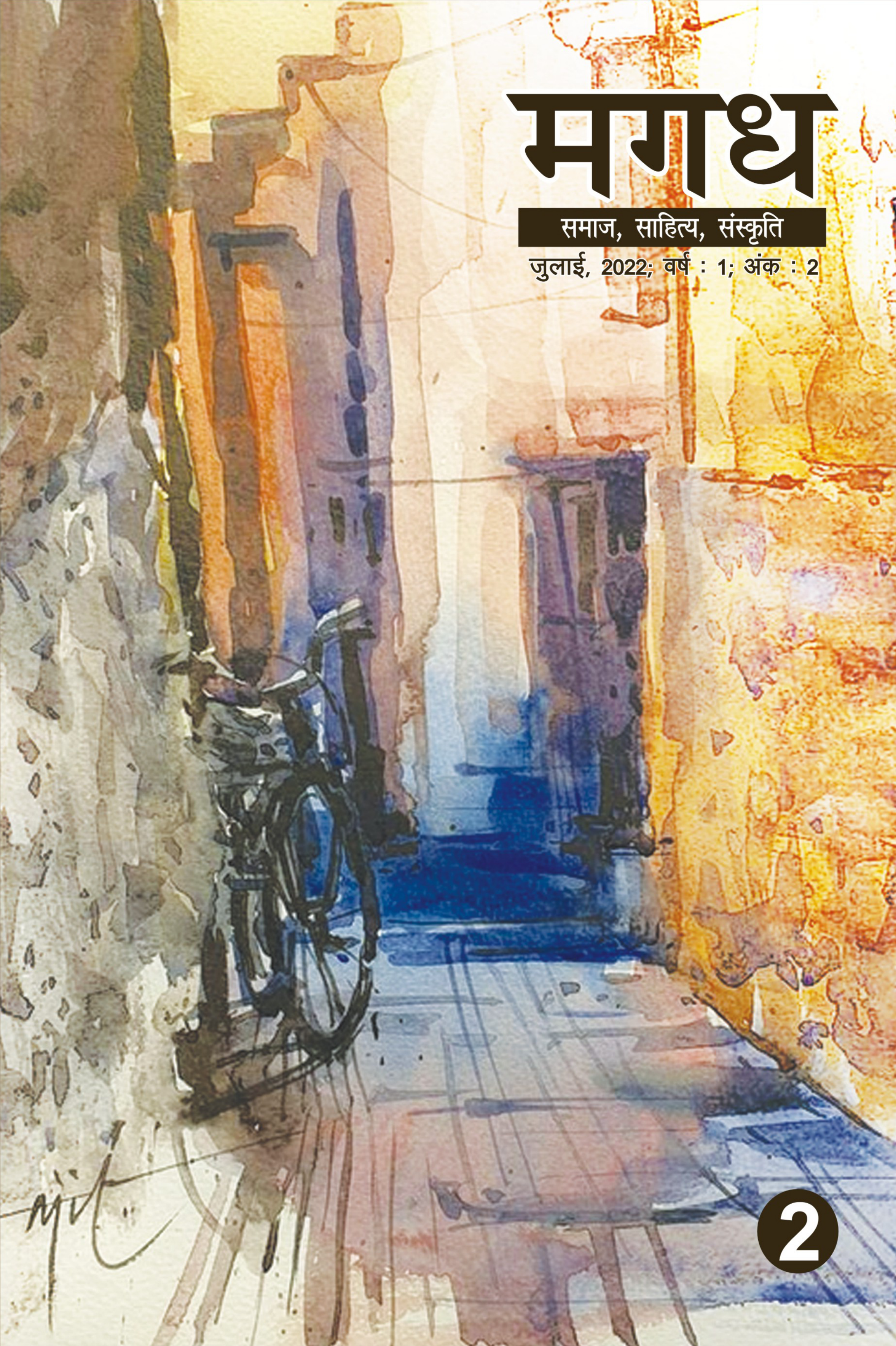

मगध

समाज, साहित्य, संस्कृति

जुलाई, 2022; वर्ष : 1; अंक : 2

2

मगध

समाज, साहित्य, संस्कृति

जुलाई, 2022; वर्ष : 1; अंक : 2

संपादक
प्रेमकुमार मणि

विशेष संपादन-सहयोग
कुमार मुकुल
प्रमोद रंजन

आवरण
अजित प्रकाश

सेटिंग
राजन कुमार

मुद्रण
पाकीजा ऑफसेट, पटना-6

मूल्य
एक प्रति 125 रुपए
चार अंक 500 रुपए
आजीवन दस हजार रुपए
संस्था और पुस्तकालय
प्रति अंक 250 रुपए
चार अंक 1000 रुपए
देश के बाहर
50 डॉलर
आजीवन
500 डॉलर

(पत्रिका के सभी पद अवैतनिक है।)

संपादकीय संपर्क :
magadhpatrika@gmail.com
2, सूर्य विहार, आशियानानगर, पटना- 800025, बिहार

यह अंक notnul.com **पर भी उपलब्ध हैं।**

बंधुओ,
यह वह मगध नहीं
तुमने जिसे पढ़ा है
क़िताबों में,
यह वह मगध है
जिसे तुम
मेरी तरह गंवा
चुके हो।

– श्रीकान्त वर्मा

यह अंक

संपादकीय 07

बातचीत
वाम का मतलब है जनसरोकार
इतिहासकार *लालबहादुर वर्मा* से *मनोज मोहन* की बातचीत 11

स्मृति
गोपीचन्द नारंग : श्रद्धांजलि - *सफ़दर इमाम क़ादरी* 19
लिली रे का उपन्यास 'पटाक्षेप' - *कमलानंद झा* 22

आलेख
'हृदय की अनुकृति' और 'हृदय की मुक्तावस्था' - *कमलेश वर्मा* 33
रचनाकार का आलोचक होना - *निशान्त* 38

कविताएं
प्रकाश चन्द्रायन 45
अविनाश मिश्र 54
देवेंद्र चौबे 59
मृत्युंजय प्रभाकर 63
विशाखा मुलमुले 67
असलम हसन 71

शहर
मुंबई : एक शहर जो खो गया - *विजय कुमार* 75

भाषांतर
इल्या कामिंस्की का 'बहरा गणतंत्र' - *अरुण जी* 89

कविताएं
जोशना बैनर्जी आडवानी 101
आदर्श भूषण 107
शंकरानंद 117
चंद्र 124
शिवम तोमर 129

कहानी
सिंदूर - *तसलीमा नसरीन* 145
तीन शहर : तीन मुलाकातें - *माधव राठौड़* 151
बेड़ियाँ - *प्रभात प्रणीत* 166
तुलसी बेसरा को रोना नहीं आता - *श्रीधर करुणानिधि* 179
एक गिद्ध का इंतेज़ार - *फ़रज़ाना महदी* 191

परख
नये सामाजिक यथार्थ और हिंदी उपन्यास - *पंकज पराशर* 199
उम्मीद की ज़मीन तैयार करने वाला उपन्यास - *सूर्यनारायण रणसुभे* 211

हिन्दी का लेखक

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। आलोचक शिवदान सिंह चौहान खड़ी बोली के साहित्य को ही वास्तविक हिन्दी साहित्य मानते रहे और उनके अनुसार इसका इतिहास 1873 के पहले नहीं जाता। लेकिन यह ऐसा विवादास्पद प्रसंग है जिसमें उलझे नहीं कि हम मूल प्रसंग से भटक जाएंगे। इसलिए स्पष्ट कर दूँ, मैं यहाँ आधुनिक हिन्दी साहित्य के रचनाकारों के वैचारिक-व्योम पर चर्चा करना चाहूंगा, बिना इजाजत लिए कि इस में आपकी दिलचस्पी है या नहीं।

मैंने महसूस किया है कि हमारी जुबान का लेखक किंचित असहिष्णु और रूढ़ मन-मिजाज का रहा है। उसके समक्ष राष्ट्र, धर्म या फिर शाश्वतता की चिन्ता इतनी घनीभूत होती है कि वह मनुष्य, अपने समय और विवेक के लिए मुश्किल से समय निकाल पाता है। इतने विचार-व्याकुल लेखक शायद ही किसी दूसरी जुबान में मिल सकें। यह व्याकुलता उसे असहिष्णु, अनुदार और तुनुकमिजाज बना देती है। राजनेता जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में हिन्दी लेखकों की तुनकमिजाजी और असहिष्णुता पर एक जगह कठोर टिप्पणी की है। प्रसंगवश उसका एक अंश देखना बुरा नहीं होगा। वह लिखते हैं– "आत्म-आलोचना की हिन्दी में पूरी कमी है, और आलोचना का स्तर बहुत ही नीचा है। एक लेखक और उसके आलोचक के बीच एक-दूसरे के व्यक्तित्व पर गाली-गलौच होना हिन्दी में कोई असाधारण बात नहीं है। यहाँ का सारा दृष्टिकोण बहुत संकुचित और दरबारी-सा है और ऐसा मालूम होता है, मानो हिन्दी का लेखक और पत्रकार एक-दूसरे के लिए और एक बहुत ही छोटे-से दायरे के लिए लिखता हो। उन्हें आम जनता और उसके हितों से मानो कोई सरोकार ही नहीं हो... जबतक हिन्दी के लेखक और पत्रकार पुरानी रूढ़ियों और बंधनों से स्वयं को बाहर नहीं निकालेंगे और आम जनता के लिए लिखना नहीं सीखेंगे तबतक उनकी अधिक उन्नति नहीं होगी।"

नेहरू की आत्मकथा 1936 में प्रकाशित हुई थी। इसका अर्थ यह कि उनकी यह टिप्पणी हिन्दी के प्रथम दौर के लेखकों पर है। उस दौर पर, जब प्रेमचंद, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल जैसी उद्‌भट विभूतियाँ सक्रिय थीं। दरअसल नेहरू अपने पुराने मित्र शिवप्रसाद गुप्त से मिलने बनारस आए थे और बनारस में उनके सम्मान में प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल और जयशंकर प्रसाद के संयुक्त आग्रह पर लेखकों की एक गोष्ठी आयोजित हुई थी। यह संभवतः वर्ष 1933 की बात है। इस गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए नेहरू ने कुछ तल्ख़ सच्चाइयां बतलायीं तब हिन्दी लेखकों का एक तबका, जिसका नेतृत्व निराला कर रहे थे,

नेहरू पर पिल पड़े और महीनों इस विषय पर पत्र-पत्रिकाओं में लेख छपते रहे। नेहरू को ही देखें– "हिन्दी अखबारों में मुझपर और हिन्दी-सम्बन्धी मेरी इस धृष्टता पर हमले शुरू हुए कि मैंने हिन्दी को वर्तमान बंगला, गुजराती और मराठी से हल्का क्यों कहा। मुझे अनाड़ी– इस विषय में सचमुच मैं था भी अनाड़ी– कहा गया। मेरे विचारों की टीका में बहुत कठोर शब्द काम में लाए गए। मुझे तो इस वाद-विवाद में पड़ने की फुर्सत नहीं थी, लेकिन मुझे बताया गया कि यह झगड़ा कई महीनों तक चलता रहा– उस समय तक जबतक कि मैं फिर जेल नहीं चला गया।"

लगभग यही समय था जब गाँधी ने भी हिन्दी लेखकों पर एक टिप्पणी की और हिन्दी क्षेत्र में एकबारगी बवाल उठ खड़ा हुआ। दरअसल नेहरू की टिप्पणी के कोई दो साल बाद गांधीजी इंदौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए थे। इसके पूर्व भी वह 1918 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए थे। अनेक हिन्दी लेखकों का मानना है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने ही गाँधी को राष्ट्रीय फलक पर लाया। मैं अपने स्तर से इसपर यकीन नहीं करता हूँ, लेकिन लोगों की बात का खंडन भी नहीं करना चाहता हूँ। 1935 के इंदौर सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में उन्होंने हिन्दी लेखकों से ही प्रश्न पूछा– हिन्दी में कोई रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जगदीशचंद्र बसु और प्रफुल्लचंद्र राय क्यों नहीं है?" यह एक ऐसा सवाल था जिसपर हिन्दी के कतिपय लेखक उबल पड़े। निराला इस बार भी इनका प्रतिनिधित्व कर रहे थे। हालांकि वह इंदौर में नहीं थे, लेकिन साल भर तक यह गुस्सा उनके मन में पलता रहा। अगले वर्ष 1936 में जब लखनऊ कांग्रेस हुआ और गाँधी उसमें शामिल होने आए, तब परिश्रमपूर्वक जुगत लगा कर निराला गांधीजी से मिले और उनसे इस बावत कुछ सवाल पूछे। इस बातचीत का विस्तृत और विशद वर्णन स्वयं निराला ने अपने एक संस्मरण-आलेख में किया है, जो उनकी किताब 'प्रबंध-प्रतिमा' में संकलित है। जब निराला गाँधी जी से मिल रहे थे, तब वह लखनवी या अवधी नहीं, बंगाली धज में थे। निराला के ही शब्दों में– "मेरा पहनावा विशुद्ध बंगाली, कुरता, धोती कोंछीदार, ऊपर से चद्दर खद्दर की।" महात्मा जी ने पूछा– आप किस प्रान्त के रहने वाले हैं? "अपनी धज में बंगाली दिखने वाले निराला हिन्दी के लेखक-कवि थे। उनका बचपन बंगाल के महिषादल में बीता था। अच्छी तरह बंगला लिखना-बोलना जानते थे। लेकिन उनका मन-प्राण हिन्दीमय था। अपने मन-प्राण को बंगला नवजागरण की आंच से उन्होंने भरसक बचाए रखा। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी चेतना को चंडीदास, लालन फ़क़ीर और बनारस के कबीर से जोड़ा। जब वह इंग्लैंड के दौरे पर गए तब भी उन्हें बंगाल के बाऊल गीतों की याद आती रही। टैगोर के लिए किसी भी शास्त्र और राष्ट्र से मनुष्य अधिक महत्वपूर्ण था। यह महत्व उनके लिए दिनप्रतिदिन अधिक गहराता गया। मानवता के लिए उन्होंने राष्ट्रवाद की तिलांजलि दे दी। उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही दुनिया भर में घूम-घूम कर अपने मानवतावादी विचारों की व्याख्या की। वह अमेरिका गए, जापान गए, पूरे यूरोप का भ्रमण किया। रूस जाकर वहां के समाज को देखा-समझा और बोल्शेविक क्रांति के बाद आई तब्दीलियों को अपनी चिट्ठियों में लिखा। लेकिन हिन्दी लेखकों के लिए उनकी हैसियत क्या थी, यह निराला द्वारा गांधीजी से पूछे गए

इस प्रश्न से प्रकट होता है– "आपको क्या अधिकार है कि आप कहें कि हिन्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कौन है!"

महात्माजी– "मेरे कहने का मतलब कुछ और था।"

निराला– "यानी आप रवीन्द्रनाथ जैसा साहित्यिक हिन्दी में नहीं देखना चाहते, प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर का नाती या नोबल-पुरस्कार-प्राप्त मनुष्य देखना चाहते हैं, यह?"

प्रतिनिधि हिन्दी कवि निराला, जो यक़ीनन अत्यंत मेधावी और महत्वपूर्ण थे, रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रति यह भाव रख रहे थे। अब इस पर गाँधी को तो चुप होना ही था। रवीन्द्रनाथ के चरखा और कविता विषयक विवाद पर भी निराला ने उनका मजाक उड़ाया और उनके जातिप्रथा विरोधी विचारों की भी तीखी भर्त्सना की। निराला ने गाँधी और नेहरू को निरुत्तर कर दिया जैसी डींग प्रायः हिन्दी प्रोफेसरों को मारते मैंने सुना है। जब निराला की यह स्थिति थी तब सामान्य लेखकों की स्थिति का आप अनुमान कर सकते हैं।

कमोबेश यह स्थिति आज भी बनी हुई है। हिन्दी का लेखक आज भी वैसे ही गरूर में जीता है। वह अपनी स्थिति, अपने समाज-देश की स्थिति पर गहराई से विमर्श करने से कतराता है। यह स्थिति न केवल राष्ट्र और धर्म के ध्वजवाहकों में है, अपितु मार्क्सवादी भी यही करते रहे हैं। यथार्थ से इतना ऊपर उठ जाओ कि धरती दिखलाई ही न दे।

गाँधी ने हिन्दी लेखकों से जब पूछा कि आपके यहाँ कोई रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जगदीशचंद्र बसु और प्रफुल्लचन्द्र राय क्यों नहीं हैं? तब उनका अभिप्राय हिन्दी समाज संभवतः नहीं समझ सका। या समझने वालों की संख्या बहुत कम रही। हिन्दी भाषियों की संख्या देश में अन्य जुबानों की अपेक्षा अधिक है। इसलिए वह हमेशा इस गुमान में रहते हैं कि हम संख्याबल में अधिक हैं, तो निश्चय ही गुण-बल में भी अधिक होंगे। ऐसा वह मानते रहे हैं कि संख्या में इसीलिए अधिक हैं कि हम में विशिष्टता की मात्रा अधिक है। लेकिन ऐसा होना जरूरी नहीं है। कई दफा इसके विपरीत भी होता है। हिन्दी कई बोलियों से मिल कर बनी एक जुबान है और इस पर अपेक्षित काम अभी हुए नहीं हैं। लेकिन हिन्दी समाज की सामान्य प्रवृतियों से गाँधी सुपरिचित थे। साहित्य सम्मेलन में जगदीशचंद्र बसु और प्रफुलचन्द्र राय जैसे वैज्ञानिक की तलाश गाँधी क्यों कर रहे थे? जिस गाँधी ने कभी अपनी पुस्तक 'हिन्दस्वराज' में टेक्नोलॉजी, डॉक्टर और वकील को देश की दुर्दशा का कारक बताया था, वह देश के सबसे बड़े हिस्से में यह सवाल छोड़ रहे थे कि आपके बीच वैज्ञानिक क्यों नहीं हैं। उनका आशय यह रहा कि आपके समाज में वह नवजागरण नहीं आया, जिससे वैज्ञानिकों और वैज्ञानिक नजरिये का उन्मेष हो सके। और जबतक आपके समाज में यह नजरिया नहीं उभरेगा आप रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसा लेखक भी नहीं दे सकते। एक लेखक के पास केवल भाषा, छंद, राग-अनुराग और प्रतीक गढ़ने की साहित्यिक क्षमता ही नहीं होनी चाहिए, उसके पास एक जीवन-दृष्टि भी होनी चाहिए। यह यदि नहीं है तो फिर महान रचना और महान रचनाकार की संभावना उस समाज में संदिग्ध हो जाती है। अपवाद भले ही प्रकट हो जाए।

किसी समाज में किस तरह की प्रवृत्तियां काम कर रही हैं, इसके पीछे कई तरह के कारण-तत्व होते हैं। उसका ऐतिह्य, उस समाज में उभरे सामाजिक आंदोलन, प्राकृतिक भौतिक

स्थितियां वगैरह। कारण तत्वों के एकत्रित होने से परिणाम प्रकट होते हैं। गाँधी ने किसी अन्य जगह पर, शायद अपने पटना प्रवास में, बिहारियों के बारे में टिप्पणी की थी। यह प्रसंग मैंने कहीं पढ़ा नहीं, मेरे गांव के एक दिवंगत स्वतंत्रता-सेनानी के मुंह से सुना था। किसी के द्वारा यह पूछे जाने पर कि बिहारी-जन इतने सुस्त-काहिल क्यों होते हैं, गांधीजी ने त्वरित जवाब दिया था– "वे प्रायः चावल खाते हैं।" प्रश्नकर्ता ने प्रतिप्रश्न किया था– "चावल तो बंगाली भी खाते हैं।" गांधीजी मानो इस प्रश्न के लिए तैयार ही बैठे थे। छूटते ही कहा- "वे चावल के साथ मछली खाते हैं।" इस प्रसंग पर मैं यकीन नहीं कर पाया था। मेरे मन में यही चल रहा था कि क्या गाँधी मछली खाने की वकालत कर रहे थे! हमारे इलाके में त्रिवेणी संघ के एक नेता सहस्त्रमुखी फ़क़ीर, जो काषायवस्त्रधारी थे, महिलाओं की सभा कर अंडे बांटते थे कि इसे अपने बच्चों को खिलावें। उचित आहार के अभाव में उचित विचार नहीं बन पाते। संभवतः वह भोजन में हाई प्रोटीन की जरूरत को रेखांकित करना चाहते थे। मैंने जब गाँधी के इंदौर वाले भाषण के बारे में पढ़ा और हिन्दी लेखकों से उनके सवाल पर विचार किया तब उसकी गंभीरता को समझ सका। आज भी स्थितियां वैसी ही हैं। हिन्दी लेखकों का वैचारिक-व्योम ही ऐसा है कि वहां एक पिछड़ी राजनीतिक-सामाजिक चेतना लगातार विकसित हो रही है। ऐसे में मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारे तो खूब बनेंगे, जगदीशचंद्र और रवीन्द्रनाथ कैसे प्रकट होंगे। अंग्रेजीदां लोग जब हिन्दीपट्टी को गोबर पट्टी या काऊ-बेल्ट कहते हैं तो निश्चित ही क्षोभ होता है। लेकिन जब देखता हूँ कि चारों तरफ सामाजिक हताशा, बेबशी, बेरोजगारी, जातिवादी-मजहबी राजनीति और भ्रष्टाचार निरंतर बढ़ रहे हैं, और हिन्दी लेखक घरों में बैठकर निःसर्ग के शाश्वत चिन्तन में निमग्न है, तब गाँधी के सवाल कानों में स्वतः गूंजते हैं। एक सवाल अंतर्मन से उठता है, क्या आप भी हिन्दी लेखक हो?

– प्रेमकुमार मणि

वाम का मतलब है जनसरोकार

इतिहासकार **लालबहादुर वर्मा** से **मनोज मोहन** की बातचीत

दिवंगत लालबहादुर वर्मा (1938-2021) बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। मूलतः वह इतिहासकार थे, किन्तु साहित्य-संस्कृति-राजनीति से गहरे स्तर पर जुड़े हुए थे। एक मार्क्सवादी बुद्धिजीवी के तौर पर वह चर्चित रहे। इतिहास केंद्रित 'इतिहासबोध' पत्रिका का सम्पादन उन्होंने लम्बे समय तक किया। अध्ययन के सिलसिले में पेरिस गए तब एक उपन्यास 'पेरिस' लिखा। कई महत्वपूर्ण किताबों का हिंदी अनुवाद भी किया। 'यूरोप का इतिहास', 'विश्व इतिहास', 'अधूरी क्रांतियों का इतिहास', 'इतिहास : क्या, क्यों और कैसे?' जैसी उनकी चर्चित किताबें हैं। एक एक्टिविस्ट की तरह वह आजीवन क्रियाशील रहे। इस वर्ष कोरोना ने उन्हें हमसे छीन लिया। 17 मई 2021 को देहरादून के एक अस्पताल में उनका निधन हो गया।
वर्मा जी से यह बातचीत मनोज मोहन ने उनके इलाहाबाद आवास पर की थी। यह आज भी प्रासंगिक है- सम्पादक

बिना किसी भूमिका के मैं सीधे तौर पर बात आरम्भ कर रहा हूँ। वर्षों पहले की बात है, पैदल ही इलाहाबाद के एक मुहल्ले से निकल रहा था। एक पते की खोज में था और इस सिलसिले में तीन घरों में जाना पड़ा और संयोगवश उनके ड्राइंगरूम को देखने का अवसर मिला। जिन घरों में गया वहाँ हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा के चारों खंड उनके बुकशेल्फ में देखा। इलाहाबाद बच्चन जी का शहर रहा है और यह स्वाभाविक था कि उनकी आत्मकथा के प्रति शिक्षित इलाहाबाद-वासियों का लगाव हो। पिछले दिनों विजयशंकर जी के यहाँ गया तो आपकी आत्मकथा का पहला खंड 'जीवन प्रवाह में बहते हुए' देखा तो पढ़ा। आपकी किताब पढ़ते हुए याद हो आया कि फिर से इलाहाबाद और इलाहाबाद में आप... आप अपनी आत्मकथा पर क्या कहना चाहेंगे। व्यक्तिगत तौर पर बच्चन जी और आपकी आत्मकथा पढ़ते हुए एक इलाहाबाद मेरे भीतर भी अंकुरित हुआ है।

बच्चन तो बहुत बड़े लेखक हैं, उनकी जीवनी बहुत लोकप्रिय है। कई लोगों को यह भी लगता है कि उनके समस्त लेखन पर उनकी जीवनी भारी है। मेरी वाली पढ़कर किसी को उसकी याद ही आई मेरे लिए बहुत सुखद है। अच्छा लगा मुझे। और मैं यह नहीं कह सकता और उसकी समीक्षा करने की मेरी हैसियत नहीं है। किताब जैसे चित्र है तो चित्र देखना हमें अच्छा लगे– यह चित्र की पहली ख़ूबी होनी चाहिए। कोई चीज़ लिखी हुई है उसको पढ़ना मुझको अच्छा लगे यानी उसकी पठनीयता पहली गुणवत्ता होनी चाहिए। जो भी हो मेरी आत्मकथा को एक लड़के ने, मेरा ख़याल है कि दसवीं कक्षा में पढ़ता है, उसने पढ़ा और कहा कि कभी उसने ऐसा कुछ नहीं पढ़ा, पाठ्य-पुस्तक के अलावा। लेकिन अंकल मैंने आपकी आत्मकथा से पढ़ना शुरू किया और दूसरी तरफ़ और लोगों ने भी पढ़ा ही है– हर उम्र के लोगों ने– सामान्य गृहिणी ने भी पढ़ा है और विद्वानों ने भी पढ़ा ही है। और जिस बात पर उनका ज़ोर है, वह यह कि पठनीय है। इतना बहुत है–बहुत है। कई लोगों ने मुझसे यह कहा कि आपकी आत्मकथा पढ़कर मेरा मन किया कि मैं भी अपनी आत्मकथा लिखूँ। मैंने कहा इससे बड़ी और कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि मेरा यह मानना है कि हर आदमी इतना विलक्षण इतना अनोखा है कि उसका जीवन ऐसा है जो जानने योग्य है वह इतना रचनाकार न हो, उतना मुखर न हो, लेखक न हो यह अलग बात है। लेकिन उसके जीवन में अगर दिलचस्पी लें तो आपको लगेगा कि उसके जीवन में कुछ-न-कुछ ऐसा ज़रूर है, वजह है जो सबकी दिलचस्पी का वायस हो सकता है, उसका इंटरेस्ट बन सकता है उसमें, इसलिए मेरी आत्मकथा पढ़कर किसी को अपनी भी लिखने का मन करता है तो यह मेरी बड़ी उपलब्धि है।

पहले खंड में पेरिस में रहने के समय तक आपने लिखा। मैंने पेरिस के बारे में जितना पढ़ा-समझा है, मुझे लगता है कि आप व्यक्ति के रूप में कम्युनिस्ट विचारधारा से जुड़े हुए रहे हैं। पेरिस कला का बड़ा केंद्र रहा है। भारत के मशहूर कलाकार-चित्रकार वहाँ रहते रहे हैं। सैयद हैदर रज़ा भी काफ़ी दिन वहाँ रहे हैं। हुसेन हैं, रामकुमार भी शुरुआती दौर में वहीं थे। अभी भी शक्ति बर्मन वहीं के नागरिक हैं। आप जिस समय वहाँ रह रहे थे, उस समय वहाँ कला की क्या स्थिति थी।

मैं आपको यह बताऊँ कि पेरिस तो कला का मक्का है जैसे मुसलमानों के लिए बग़ैर मक्का गए–उसके पाँचों धर्म है वो पूरे नहीं होते। वो मुसलमान नहीं हो पाता पूरी तरह से, वैसे कलाकार अपना पूर्णत्व नहीं प्राप्त कर पाएगा जबतक वहाँ न जाएँ। क्यों? देखिए! इसकी वजह यह है कि एक परंपरा है वहाँ पर जो सदियों पुरानी जीवंत परंपरा है। उसके पहले भी रही होगी। लेकिन चार-पाँच सौ साल से मतलब जबसे आधुनिक काल है तब से ऐसा नहीं है कि कुछ संरक्षक होते हैं कलाओं के... राजा होते हैं, कुछ सामंत हुए– वहाँ आम जनता भी कला की संरक्षक है। मैं आपको अपना अनुभव बताऊँ कि शनिवार और रविवार जो वीकेंड होता है– उसमें मुझे पहली बार अनुभव हुआ– एक दोस्त वहाँ थे मेरे– उन्होंने इस क्षेत्र में मुझे घुमाया– मेरा परिचय करवाया। कुछ नहीं तो वहाँ के शिक्षा के क्षेत्र हैं– लैटिन क्वार्टर कहते हैं। उसमें नहीं तो कुछ सौ-डेढ़ सौ गैलरीज़ होंगी। और हमलोग वीकेंड पर वहाँ जाते थे। उनको– देखना जो कहते हैं– देखने की तमीज़ जो वहाँ जाकर पैदा हुई। अमूण्मयों

की भाषा समझ में आई, आकृतियाँ समझ में आईं। मूर्तिकला और चित्रकला की ढेरों प्रदर्शनियाँ तो वहाँ चलती ही रहती हैं। फिर बड़ी-बड़ी गैलरीज़ वहाँ कुछ नहीं तो आठ-दस तो अंतर्राष्ट्रीय ख़्याति की है। उनमें प्रदर्शनियाँ लगती रहती हैं। मेरे जमाने में भी दो बड़ी अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी वहाँ लगीं। लंबी-लंबी लाइनें वहाँ लगती थीं उनको देखने के लिए। फिर हमलोगों ने वहाँ का जो वर्साय महल है, उसे देखा, मोनालिसा वहाँ पर देखी– जो दुनिया में सबसे अनमोल और विख्यात है। कहिए तो मुझे देखना वहाँ आया और मैंने महसूस किया कि वहाँ का जो कलाकार है वह केवल चित्र रचता ही नहीं है। वह जीवन को भी अपने ढंग से देखता है। वहाँ पर एक जगह है मोआर्च कहलाती है–वो इलाक़ा है–वो बहुत ऊँचा–पेरिस में सबसे ऊँचाई पर इलाक़ा है। वहाँ पर एक प्रायवेट जगह है। उस इलाक़े में जितने कहवाघर हैं, कैफे जिसको बोलते हैं फ्रेंच में। वहाँ पर जाएँ तो कोई कहेगा कि यहाँ जितने इंप्रेशनिस्ट थे, वो यहाँ पर इकट्ठा हुआ करते थे। यहाँ पर यह होता था, वहाँ पर वह होता था। यानि मेरे मुहल्ले में किंवदंतियाँ और गाथाएँ मिलेंगी कला संबंधी। फिर जब किताबें पढ़िए आप तो देखेंगे कि जो चित्रकार हैं या मूर्तिकार है वह केवल ये नहीं कि जो कुछ कहना है वो मैंने चित्र में कह दिया या जैसे कभी बोलते हैं कि अलग से मैं क्या बोलूँ जो है वह कविता में है। वह आपसे बात करेगा तो इसका मतलब यह है कि उसका कलात्मक विकास और बौद्धिक विकास है तो उसके अपने विचार भी हैं। वह अपनी कला के बारे में ज़्यादातर बात कर सकते हैं। इस तरह से कुल मिलाकर रची-बसी चीज़ें हैं। कला हमारे जैसे देश में– कुछ अलग से कलाकार हैं, उनकी अलग-सी जीवनशैली है, जो विचित्र है और वह जनता से घुलते-मिलते नहीं हैं। अपनी अलग-सी गढ़ी है, वहाँ दिल्ली में गढ़ी में जो लोग रहते हैं उनकी एक अलग-सी दुनिया है।

ऐसा क्यों हुआ कि प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ऐसोसियेशन या उनके आसपास से जो अन्य लोग थे, जैसे रामकुमार थे, सैयद हैदर रज़ा साहेब थे, हुसेन थे, खन्ना थे। लेकिन उस पीढ़ी के बाद जो लोग आए उनके पास एक बौद्धिक संपदा मिलती है। लेकिन इसके बाद जो लोग आए उनके पास पिछली पीढ़ी के लोगों की तरह बौद्धिक संपदा का अभाव मिलता है।

देखिए कि वाम का जो कुल मतलब होता है– जन सरोकार। वाम जो भी है– चाहे वो विचारक हो, लेखक हो, आंदोलनकारी हो– उसको औरों से भिन्न बनाने वाली चीज़ अगर है तो जन सरोकार। जनता के लिए वह कुछ करना चाहता है। केवल अपने लिए नहीं जीना चाहता। इससे अलग जो लोग हैं साहित्यकार हो या कलाकार हो वो ज़्यादातर स्वान्तः सुखाय कुछ करना चाहते हैं जो उनको अच्छा लगता है करते हैं– वैसा जीते हैं। जो वाम के लोग हैं, ये जो सारा मूवमेंट है जो आप देखेंगे कि यूरोप में दो घटनाओं से प्रभावित रहा– एक रूसी क्रांति हो गई 1917 में प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान। और दूसरे विश्वयुद्ध के फ़ौरन बाद फासीवाद का विकास हुआ– 1922 में मुसोलिनी सत्ता में आ गया और 1933 में हिटलर। और लगने लगा कि सारी दुनिया की सभ्यता ही ख़तरे में है, तो प्रतिकार में प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ऐसोसिएशन भी बना, हिंदुस्तान में इप्टा बना। प्रोग्रेसिव थियेटर बना। तो इन सारे लोगों का लक्ष्य था फासीवाद का विरोध करना, जनतंत्र की वकालत करना और रचना को लेकर, साहित्य को

लेकर जनता के बीच जाना.. तो एम.एफ़. हुसेन बड़े हो गए और उनकी महँगी हो गई कला। लेकिन आपको भी पता है कि वो क्या करते थे– सिनेमा के पोस्टर बनाते थे। और जब वो बड़े भी हो गए तो नंगे पाँव रहने का जो चलन था, वह यही था कि वो अरबपति हो चुके हैं लेकिन नंगे पाँव चलने का मतलब है– ज़मीन से हमारा जुड़ाव बना रहे। ज़मीन को हम छुएँ नंगे पाँव। मैंने अपनी आँखों से दो बार देखा है– एक बार हाथ मिलाने का सौभाग्य भी मिला है मुझे। नंगे पाँव थे। और जब मैंने कुछ कहा उनसे तो एक मेज रखी हुई थी वे बैठ गए बतियाने। अब इतने बड़े कलाकार थे, इतने सहज रूप से आप उनसे बात कर रहे हैं। तो पेरिस में भी हमने देखा कि जो कलाकार है– जब मैं वहाँ था तो छात्रों का 1968 वाला आंदोलन हुआ था। उसी बैकग्राउंड पर मैंने अपना उपन्यास भी लिखा है 'पेरिस' तो उसमें आप देखते कि वो सारी दुनियाभर में प्रतिकार का समय था, वियतनाम में अमेरिका की फ़ौजें पहुँची हुई थीं। उसका विरोध हुआ– तो जो जुलूस निकालते थे उसमें मेरे अपने गुरु थे– क्रांति के विरोध में खड़े होते थे। सार्त्र जो हैं– क्रांति के पक्ष में खड़े होते थे। सब सड़क पर पाए जाते थे। ऐसे-ऐसे भी जुलूस थे जिनमें छह-छह सात-सात नोबेल पुरस्कार विजेता झंडा लेकर सड़क पर दौड़ते थे। ऐसा माहौल है वहाँ। अभी आप देखें जब पेरिस में आतंकवादी हमला हुआ, नववर्ष से पहले एब्डोवाला तो लाखों लोगों ने प्रदर्शन किया कि जितने दुनिया में और कहीं नहीं हुए। तो एक माहौल है फ्रांस में ख़ासतौर से पेरिस में। आप कह रहे थे कि यही लोग क्यों? जब स्वीकारते हैं आप विचारधारा या जीवनपद्धति तो उसका मर्म ही यही होता है कि हम जनता से जुड़ेंगे। और हम जनता के जीवन को बदलना चाहते हैं तो उनका दूसरे ढंग का जीवन-विचार हो ही जाएगा।

बाज़ार तो वहाँ भी है और यहाँ भी है। यहाँ जो पिछले बीस-पच्चीस वर्ष का समय देखता हूँ तो यहाँ के कलाकारों का या साहित्यकारों का जन-सरोकार एकदम से कम हुआ है।

निश्चित रूप से...

ऐसा क्यों हुआ?

ये तो देखिए ऐसा है कि निश्चित रूप से यह पूँजीवाद की विजय है, क्योंकि पूँजीवाद जो करता है वो यह कि उत्पीड़न करता है। वह जिसको कहते हैं कि रावण के नाभि में अमृत था। उसको मार ही नहीं पाता था कोई। तो इसका अमृत है पूँजीवाद का–व्यक्तिवाद। वह आपको अपने में सीमित कर देता है। अपने लिए जीने की कोशिश करें आप। अपना जीवन अपने में समेट लें जिसका विश्लेषण किया था मार्क्स ने। अजनबीयन पैदा कर देता है। आप अपने काम से अजनबी हैं। आप अपने घर में अजनबी हैं। आप समाज में अजनबी हैं। तो आपके अंदर इतना परायापन है कि अगर अपनापन आपको ढूँढ़ना है तो अपने में जाएँगे तो पाएँगे कि हम भी अपने लिए अजनबी हो चुके हैं। जब ऐसा समाज बन जाएगा तो निश्चित है कि सामाजिकता ख़त्म हो जाएगी या वो सामाजिकता गढ़ी हुई दिखाई पड़ेगी। प्रदर्शन के लिए होगी। ऐसी स्थिति में केवल जो बाज़ार में हम क्रय-विक्रय करते हैं वह तो तभी नहीं होता,

हमारी मानसिकता बाज़ारू हो जाती है। हम भी जैसे आप हमसे मिलने आए तो हो सकता है कि तत्काल दिमाग़ में आए कि मैं इनको अपनी किताब बेच दूँ। या आगे दिल्ली में रहते हैं तो मैं पता कर लूँ कि भाई कहाँ रहते हैं– कैसे रहते हैं– कोई काम बता दूँ इनको। आप मेरे घर आए हैं तो हो सकता है कि कोई फ़ायदा उठाने की कोशिश करें तो यह जो सामान्य आचरण-व्यवहार है। आपको अच्छा लगा था मिलना और मुझे मिलना अच्छा लग रहा है यह तो कन्सीडरेशन तो है ही नहीं। मिलना-जुलना, फायदे-नुक़सान का सवाल है। यह हमसे मिलने को आएँगे तो कुछ फ़ायदा सोचकर मिलने आएँगे। जैसे ही यह मिलने आएँगे तो मैं चाहूँगा कि मैं इनसे भी कोई फ़ायदा उठाऊँ। यह जब हमारी प्रवृत्ति बन जाएगी तो फूलेगा-फलेगा पूँजीवाद। जैसे स्वस्थ जनतंत्र यहाँ न आए तो आजकल जो बाज़ारू राजनेता हैं उनका राज फलेगा-फूलेगा ही। क्योंकि तब तो ये चुने नहीं जाएँगे। ये तो चाहेंगे न कि जनता मूढ़ रहे, जनता चिंता न करे। जनता अपने लिए लड़ाई लड़ती रहे अपना जीवन जीती रहे खाली। और प्रजातंत्र के नाम पर यह सब चल रहा है।

अब हम यूरोप से अपने वतन पर आवें। समकाल की राजनीति पर आपकी राय जानना चाहूंगा। 2014 में भारतीय जनता पार्टी पूर्ण बहुमत से केंद्र में सरकार बनाती है। फिर कुछ ही महीनों के बाद दिल्ली और बिहार के चुनाव में वह पिट जाती है। इन सब को आप कैसे देखते हैं?

यह कहना इसलिए भी मुश्किल है कि समाज में जैसे पदार्थ हैं...पदार्थ के बारे में आप भविष्यवाणी कर सकते हैं कि इसके नीचे दियासलाई दिखाएँगे तो आग लग जाएगी। लेकिन समाज में इतनी आसानी से आग नहीं लगती। हम कह नहीं सकते कि हम ख़ूब क्रांतिकारी भाषण दें या लिखें तो क्रांति हो जाएगी। यह प्रेडिक्ट नहीं किया जा सकता। क्योंकि आदमी पदार्थ नहीं है। हर आदमी अनोखा है, अलग है तो तमाम लोगों की मानसिकता को बदल पाना बड़ा मुश्किल होता है। इसलिए कब होगा– यह तो नहीं कहा जा सकता लेकिन होगा ज़रूर, इसका मुझे भरोसा है। क्योंकि दुनिया आप देखें जब से पाँच हज़ार साल से चल रही है तबसे निश्चित रूप से कितना ऊँच-नीच है। कितनी क्रांतियाँ हुई हैं, नवजागरण हुआ तो कुछ लोग ज़रूर कहते हैं कि दुनिया बद से बदतर होती जा रही है। मैं नहीं मानता इसको। मेरा मानना है कि दुनिया बेहतर होती जा रही है। कुछ लोगों के लिए हो सकता है कि बदतर होती जा रही है। दूसरे जितने लोग आज पढ़े-लिखे हैं, जितने लोग आज सोच रहे हैं। हम-आप बैठकर–सामान्य लोग हैं। हमलोग देश-दुनिया के बारे में बातें कर रहे हैं। यह दो सौ साल पहले कहाँ संभव था। दो सौ साल पहले–सौ साल पहले भी कुछ सामान्य कुछ पुरोहित कुछ बहुत विद्वान लोग दुनिया के बारे में सोचते थे बाकी सब लोग अपना-अपना जीवन जीते थे–जो भी उसका जीवन हो। आज चरवाहे का बेटा भी प्रधानमंत्री हो सकता है। और चाहे जो भी हुआ हो– मोदीजी का जो भी मूल्यांकन हमलोग करते हैं– कितने ग़लत आदमी हैं वगैरह। देखिए यह तो तय ही है न कि चायवाला प्रधानमंत्री हो गया है। यह संभव हुआ है। यह संभव हुआ है एक ऐसे प्रजातंत्र में जो अच्छी तरह से नहीं चल रहा है। यह ग़लत तरह का प्रजातंत्र है लेकिन उसमें भी–आप देख रहे हैं कि बड़ा-सा माफिया चुनाव में हार जा रहा

है। इसका यह मतलब नहीं है कि चुनाव बहुत अच्छा हो रहा है। लेकिन जब भी मौक़ा मिल जाता है जनता को तब वह उठा के पटक देती है बड़े-बड़े विद्वानों को भी, अगर नहीं पसंद करती। बड़े-बड़े माफ़िया को भी पसंद नहीं करती। इसका मतलब है कि दुनिया में जनतंत्र पनप रहा है, अपनी तमाम विकृतियों के बावजूद। इसलिए भाई मैं यह सोचता हूँ कि बहुत आक्रामक है पूँजीवाद, बहुत आक्रामक है प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ। देख रहे हैं कि क्या-क्या बोल रहे हैं लोग। बिना किसी महिला के पूछे हुए या उसकी राय जाने हुए कोई बोल देगा कि दस-दस बच्चे होने चाहिए हिंदुओं के। अब आप बताइये कि यह कितना नारी-विरोधी विचार है। आप सोचिए कोई औरत सुने– उसकी क्या हिम्मत है कि यह बात अपनी पत्नियों से कहे कि उसे दस बच्चे पैदा करने होंगे। आप योगी बने हुए हैं जायज रूप से आपके बच्चे नहीं हो सकते– नाजायज़ पता नहीं आप क्या करते हैं। ऐसे में सारी ताक़तें लगी हैं जो आदमी को मूढ़ बना रहीं। उसके बाद आप देखिये बिहार के इस चुनाव में भी जातिवाद चला– लेकिन सबके बावजूद चकाचौंध जो मोदी जी ने दिखाया था– उसको तो नकार दिया। तो उस चुनाव में चकाचौंध एक जगह सफल हो गया पार्लियामेंट के चुनाव में, एक जगह चकाचौंध असफल हो गया यह तो अंतर है ही। जनता यहाँ भी बहुत समझदार नहीं थी लेकिन इतनी समझ आ गई थी उसको कि आप हमारा वोट इस तरह नहीं ख़रीद सकते। ताक़त जो लगी थी– आप सोचिए– बिहार में। उसकी कल्पना कीजिए कभी कि प्रधानमंत्री अकेले तीस जगह भाषण दे और प्रधानमंत्री का भाषण क्या होता है आजकल ज़रा सोचिए। कितना सुरक्षा प्रबंध–करोड़ों-अरबों का ख़र्च। आप सिर्फ़ टीए-डीए देख लीजिए जितनें अधिकारियों को लगाया होगा। करोड़ों तो टीए-डीए में गया होगा खाली। कितना हुआ–हालाँकि लोग हिसाब लगा ही रहे हैं। उससे यह है कि जनता को आप इससे बेवकूफ नहीं बना सकते। दोनों बातें स्पष्ट हैं। लेकिन इसके बावजूद जहाँ मौक़ा मिल रहा है जनता अपनी चेतना का प्रदर्शन भी कर रही है। इसका कारण क्या है? शिक्षा की हालत इतनी ख़राब है– बहुत ख़राब शिक्षा है। लेकिन वह उपलब्ध हो गई है वृहतर जन को। पहले तो आप सोचिए आधी जनता यानी नारियों को शिक्षा नहीं मिलती थी। तीन-चौथाई यानी श्रमजीवियों को। जितना भी है उनको शूद्र कह कर आप शिक्षा से वंचित किए हुए थे। तो जहाँ का श्रमजीवी अशिक्षित हो आप सोचिए– जो दुनिया बना रहा है उसको आप सोचने की ताक़त नहीं दे रहे हैं। फिर भी उसने सोचा। और सारा विज्ञान, जो आविष्कार हुए हैं– अधिकांशतः तो श्रमजीवियों ने किए हैं। कोई पढ़े-लिखे युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर थोड़े किए हैं। सब सामान्य लोग हैं– वही आज भी हो रहा है आज भी गाँव का– रोज आप सुनते हैं रिक्शा चलानेवाले का लड़का आईएएस हो गया। अब आईएएस होना मैं कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानता हूँ। लेकिन एक मानक है न हमारे देश में। वह कैसे हो पाया। अभी देखिए आज के अख़बार में था– गाँव का एक लड़का है, इतना बड़ा वैज्ञानिक हो गया है अंतर्राष्ट्रीय ख़्याति का और स्वीडन के एक युनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर है और– इलाहाबाद का है।

यह सब संभव हो गया है न! यह सब अच्छी सूचनाएं हैं....

अशुभ सूचनाएँ भी काफ़ी हैं। शिक्षा के क्षेत्र को ही लें– केंद्र में जो स्मृति जी कर रही

हों या राज्यों में खासकर हिंदी बहुल प्रदेशों मे हो रहा है– मीडिऑक्रिटि को पूरी तरह प्रमोट कर दिया गया है तो इसका नतीजा क्या होगा। हमारे यहाँ बहुत अच्छी प्रतिभाएँ नहीं उभरेंगी। एक-दो छिटपुट उभरने से समस्या को सुलझना नहीं है। लोग बीमार बहुत पड़ रहे हैं तो सवाल है कि बीमार कहाँ जा रहे हैं– किस डॉक्टर के इलाज में...

ठीक बात है। अभी तक की जो दुनिया है– चाहे जनतंत्र हो, चाहे सामंतवाद हो या चाहे प्राचीनकाल हो– प्रतिभाओं के पूरी तरह उभरने का समय कभी नहीं आया। कहा जाता है कि प्रतिभा कुछ लोगों में ही होती है– विज्ञान ने इसको नकार दिया है। सबमें प्रतिभा की संभावनाएँ हैं। अलग-अलग तरह की प्रतिभाएँ होंगी। बहुत प्रतिभाशाली मोची हो सकता है, बहुत प्रतिभाशाली प्रोफ़ेसर हो सकता है। तो क्या आप प्रोफ़ेसर और विद्वान को प्रतिभाशाली मानेंगे तो यह तो ग़लत बात है। जो आदमी मूर्तियाँ बना रहा है, जो आदमी पत्थर गढ़ रहा है– कोई भी दुनिया का– किसान कितने प्रतिभाशाली होते हैं। उसी धरती से क्या-क्या चीज़ें उगा लेते हैं। पहले हमको प्रतिभा की परिभाषा अलग से बदलनी पड़ेगी। दूसरे हमको देखना पड़ेगा कि यह सारा माहौल ऐसा बनाया गया है। थोड़े से लोग संत-महात्मा पहले भी हो जाते थे। विद्वान हो जाते थे, पुरोहित हो जाते थे, सेनापति हो जाते थे। आज मीडिऑक्रिटि को प्रमोट किया जा रहा है ताकि थोड़े में आप संतुष्ट हो जाएँ। डिग्री पा जाएँ आप। शिक्षा किसी को नहीं दी जा रही डिग्रियाँ दी जा रही हैं। डिग्रियों के आधार पर आपको इंजीनियर, डॉक्टर जो भी बनाया जा रहा है। कुछ लोग–सवर्ण बोलेंगे कि रिजर्वेशन भी मीडिऑक्रिटि को प्रमोट कर रहा है। जबकि हक़ीकत क्या है– पहले भी सवर्णों में एक ही दो प्रतिभाशाली होते थे, बाकी तो सब अपनी सवर्णता के नाते हो जाते थे। इसलिए ऐसी दुनिया बनानी है जिसमें हर आदमी के अंदर जो प्रतिभा है वो उभरे। तब आप देखेंगे कि प्रतिभाओं की एक बाढ़ आ जाएगी। प्रकृति तो सबको प्रतिभा देती है। यह सब फेल हो चुका है कि कुछ लोग ख़ासतौर से चार पीढ़ी से जो पढ़ रहे हैं वो ज़्यादा तेज़ हो जाते हैं। अफ्रीका में आप देख रहे हैं कि पहली पीढ़ी जो है स्कूल गई थी जो आजकल शासन कर रही है। आप वैसे भी देखिए– जो वहाँ का प्रधानमंत्री है गोदना गोदाया हुआ है बाँह पर। क्यों? क्योंकि वह ट्राइबल था। उसके यहाँ वही चलन था– स्कूल गया– नेलसन मंडेला पैदा हो गया। वहाँ पर आप देखें कि नोबेल पुरस्कार भी मिल जा रहा है– साहित्य का भी नोबेल पुरस्कार। कौन लोग हैं– पहली पीढ़ी स्कूल गई है। वही पहले आदमी थे जो स्कूल गए अपने जनजाति से। अवसर मिलने पर प्रतिभा की बाढ़ आ जाएगी। मेरा तो अभी यही कहना है लोगों से। देखिए अभी जो दुनिया चमत्कृत हो रही है। दुनिया के दस फ़ीसदी लोगों ने इसको बनाने में हिस्सेदारी की है। और भी कम। उन्हीं लोगों में से भारत में, अलग-अलग देशों में या तो केवल सवर्ण लोग होते थे और लोगों में से कुछ धनी लोग होते थे। वही लोग पढ़ते थे लिखते थे और सोचते थे। विज्ञान कला में उन्हीं का वर्चस्व होता था। अब जबकि यह सब उपलब्ध हो रहा है लोगों को तो आप सुनते होंगे कि चित्रकार जनजातियों में से निकल कर आ रहे हैं। मधुबनी चित्रकला देखिए।

संभावना ज्यों-ज्यों बढ़ रही है–मीडिऑक्रिटि को ख़त्म करना ही तो नये समाज की रचना का लक्ष्य है लेकिन मीडिऑक्रिटि समाज की है। भगवान ने या प्रकृति ने प्रतिभाशाली लोग

पैदा किए हैं यह बात अब नहीं चलेगी। प्रतिभा सबमें है अवसर चाहिए। अभी भी दुनिया में कोई ऐसा समाज नहीं बन पाया है कि सबको बराबरी का अवसर देता हो। देगा तो आप देखेंगे कि कहाँ तक—कहाँ से प्रतिभाएँ जाग रही हैं। निश्चित रूप से...

इतिहासकार के रूप में क्या आप ऐसी संभावना देखते हैं कि ऐसी दुनिया बनेगी?

निश्चित। कोई रोक नहीं सकता। मैं तो बहुत आशावादी आदमी हूँ। दीख रहा है मुझे। मेरी 78 साल की उम्र है, मैं देख रहा हूँ। मैं यही कह रहा हूँ एक इतिहासकार के नाते मेरे सामने अतीत से लेकर भविष्य तक होता है। इतिहासकार का काम भी यही है। उसका काम सिर्फ़ अतीत की पुनर्रचना नहीं है। उसके सामने वर्तमान भी होता है– भविष्य भी। मुझे तो साफ़ दीख रहा है लोगों को लगता होगा कि दुनिया में कलयुग आ गया है– दुनिया नष्ट हो रही है। आपको सुना दूँ चार्ल्स डिकेंस एक बहुत बड़े लेखक हुए हैं, उनकी एक बहुत प्रसिद्ध रचना है– टेल ऑफ़ टू सिटिज। फ्रेंच रिवोल्यूशन की जमाने की बात है। उनके उपन्यास का पहला वाक्य है—Those were best of time, those were worst of time। सबसे अच्छे दिन वही थे और सबसे बुरे भी दिन वही हैं। आज का समय भी बिल्कुल वैसा ही है। कहाँ से आप देख रहे हैं– कुछ लोगों को लगेगा कितना आतंकवाद, कितनी महँगाई, कितनी बेरोजगारी, कितनी बर्बरता तो इससे बुरे और क्या दिन होंगे। लेकिन दूसरी तरफ़ अगर आप देखें आज मज़दूर भी बाज़ार में जा रहा है, हैसियत बन गई है उसकी। वह आज ग्राहक हो गया है। ग्राहक वह होता था पहले? माचिस और नमक के अलावा क्या ख़रीद पाता था। पैसा ही नहीं होता था। आज सामान्य से सामान्य आदमी भी और इतना हो गया है कि कंज्युमरिज्म ही आज का धर्म हो गया है। कंज्युमरिज्म सोसायटी आज बनाई जा रही है। लेकिन इसका दूसरा पक्ष क्या है वो हैसियत आती जा रही है लोगों में। और जब आप बाज़ार में जा रहे हैं, उल्लू बना रहा है बाज़ार। लेकिन कब तक उल्लू बनाएगा। जब आप उस लेनदेन में है। आप स्वार्थी हो गए हैं– अपना स्वार्थ जब आप देखेंगे तो आपको दीखेगा कि हमारा स्वार्थ अपने लिए जीने में ही जितना पूरा हो रहा है उतना अगर हम बड़े समुदाय के लिए जियें तो हमारा स्वार्थ और बड़ा हो जाएगा। जो कि हम नाम कमाएँगे। हमको महत्त्वपूर्ण समझा जाएगा। आपकी समझ में यह आ जाए तो आप अपने लिए जीना छोड़कर धरती के लिए जीना शुरू कर देंगे। ज़मीन उपजाऊ हो रही है तो उसमें कुल बात है कि खर-पतवार उसमें न उगे। दुनिया के शासक जो हैं उसमें खर-पतवार बोना चाहते हैं। हमारा काम है उसमें ज़रूरी फ़सलें बोएँ। ज़मीन तो उपजाऊ हो रही है। फँलाने पुराणों में लिखा है इसलिए ऐसा करो– इतना चिल्ला रहे हो। कोई पुराण को मान रहा है!

आपकी आत्मकथा का दो खंड होगा। जिसमें एक खंड छप चुका है और दूसरा छपने की प्रक्रिया में है। तीसरे खंड का भी कोई इरादा है

तीसरा खंड भी पूरा कर लिया है। हमने दोनों को एक साथ भेज दिया है।

❖

गोपीचन्द नारंग : श्रद्धांजलि

सफ़दर इमाम क़ादरी

कोविड की महामारी के दौरान हमने न जाने कितने जाने-अनजाने चेहरों को खोया है। मौत को देखने और सहने की हम सबमें अब आदत-सी हो गई है। पिछले वर्षों में उर्दू आलोचना के दो स्तंभ शमसुर रहमान फारूकी और शमीम हन्फी कोविड की चपेट में आ कर हम से विदा हो गए। इन दोनों से उम्र में गोपीचन्द नारंग बड़े थे और अब वे व्हील चेयर की मदद से आयोजनों मे आ-जा रहे थे। संक्षेप में वक्तव्य देते तथा बीच-बीच में कुछ भूलने लगे थे। उम्र की सच्चाई उन पर स्पष्ट होने लगी थी। इसलिए इस हफ्ते जब यह खबर आई कि अमेरिका में अपने बेटे के घर पर सोए हुए में ही उन्होंने अपनी अन्तिम सांसें लीं, तो उर्दू समाज में कोई हंगामा की स्थिति नहीं पैदा हुई। मानो सब ने यह समझ लिया था कि यह समाचार देर-सबेर उन्हें सुनना ही है। वह 91 वर्षों की भरपूर ज़िन्दगी जी कर हम सब से विदा हुए।

11 फरवरी, 1931 ई. को बलूचिस्तान (वर्तमान पाकिस्तान) में जन्मे नारंग साहब ने दिल्ली में ही उच्च शिक्षा ग्रहण की तथा 1957 ई. में उर्दू शिक्षण में आए। दिल्ली विश्वविद्यालय में सबसे ज़्यादा समय तक वे अध्यापक रहे। एक दशक तक जामिया मिल्लिया इस्लमिया में भी अध्यापन कार्य किया। अल्पकाल के लिए अमेरिका एवं अन्य विदेशी विश्वविद्यालयों से जुड़े रहे। अतिथि प्रोफेसर के तौर पर भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में उन्होंने शैक्षिक कार्य किए थे।

'हिन्दुस्तानी क़िस्सों से माखूज़ उर्दू मसनवियाँ' शोध पुस्तक से गोपीचन्द नारंग ने अपने लेखन का आरंभ किया। एक लम्बे समय तक गोपीचन्द नारंग ने स्वतंत्र लेखन के बजाय सम्पादन, संकलन में ज़्यादा रुचि दिखाई जिस के कारण उनका मौलिक शोध एवं आलोचनात्मक लेखन सामने नहीं आ सका। पिछले बीस वर्षों में उन्होंने साखतियात (संरचनावाद), ग़ज़ल और ग़ालिब विषयक स्वतंत्र पुस्तकें लिखीं। सामान्यतः उनकी पुस्तकों की गिनती 67 तक पहुँचती है लेकिन उनमें चालीस से ज़्यादा पुस्तकें सेमिनार के लेखों का संग्रह, कवियों का संचयन तथा दूसरों के साथ मिल कर तैयार किए गए संग्रह हैं। अंग्रेज़ी या हिन्दी में दूसरों के द्वारा अनूदित पुस्तकों को भी इस सूची में ग़ैर ज़रूरी तौर पर शामिल कर

लिया गया है। नारंग साहब की इस सूची में एन.सी.ई.आर.टी. तथा एन.सी.पी.यू.एल. की पाठ्य-पुस्तकें भी शामिल हैं जिन्हें उनकी अध्यक्षता या सदस्यता में अनेक लोगों के सहयोग से विकसित किया गया था।

नारंग साहब शुरू मे प्राचीन साहित्य के अध्येयता के तौर पर उभरे लेकिन भाषा-विज्ञान से दिलचस्पी तथा उर्दू में आधुनिकतावादी साहित्यिक माहौल में वे जल्द शामिल हो गए, जिसके उस काल में नेतृत्वकर्ता शमसुर फारुकी हुआ करते थे। अपने आरंभिक काल में नारंग 20 वर्षों से अधिक समय तक उर्दू के आधुनिक साहित्य के आलोचक के तौर पहचाने जाने लगे थे। इसी बीच नारंग साहब उत्तर आधुनिकता की ओर उन्मुख हुए। इस विषय पर 'साख्तियात, पस-साख्तियात और मशरिक़ी शेरियात' नामक उनकी विस्तृत पुस्तक प्रकाशित हुई जिस पर अनेक विद्वानों ने अनुवाद, नक़ल और अन्ततः साहित्यिक चोरी के सप्रमाण आरोप लगाए। नारंग साहब ने कभी भी इसका जवाब नहीं दिया। इस पुस्तक में उद्धरण तथा निजी पाठ मे भेद तलाश करना असंभव है।

गोपीचन्द नारंग ने सरकारी और अर्धसरकारी साहित्यिक संस्थानों के सहयोग से अपनी साहित्यिक पहचान बनाई। उर्दू अकादमी, दिल्ली, उर्दू भाषा निदेशालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, साहित्य अकादमी, ग़ालिब इंस्टिट्यूट विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा जामिया मिल्लिया इस्लामिया से वे संक्षिप्त या लम्बे काल तक जुड़े रहे। साहित्य अकादमी में 10 वर्षों तक उर्दू समिति के संयोजक, पाँच वर्षों तक उपाध्यक्ष, तथा पाँच वर्षों तक अध्यक्ष के रूप में संस्था को सुशोभित करते रहे। सरकार किसी भी विचारधारा की हो, नारंग साहब का साहित्यिक सत्ता से एक तालमेल बैठ जाता था। पिछले चालीस वर्षों के साहित्य अकादमी पुरस्कार जो उर्दू में दिए गए, उनपर नारंग साहब का ठप्पा लगा रहा है। उनकी निजी पसन्द या नापसन्द पर ही ये सारे पुरस्कार दिए गए जिसके कारण दर्जनों सही लेखक इससे वंचित हुए और अनेक ग़लत या कमज़ोर पुस्तकों-लेखकों को पुरस्कृत किया गया। जिसके कारण उनपर अनेक प्रकार के आरोप लगे।

नारंग साहब ने अपनी भाषण-कला से प्रशंसकों का एक आभा-मण्डल तैयार किया था। आखिर के 10 वर्षों को छोड़ दीजिए तो यह सही है कि उन्हें किसी भी विषय पर विस्तार से बातचीत की कला मालूम थी। यद्यपि शिक्षण में उनकी विशेष रुचि नहीं थी तथा दिल्ली के दोनों विश्वविद्यालयों के तब के छात्रों से पता किया जा सकता है कि उन्होंने पाठ्यक्रम का कितना हिस्सा पढ़ाया; मगर उन्हें किसी विषय पर संयत हो कर अपनी बात को सरलीकृत और लोकप्रिय अन्दाज़ में पेश करना आता था। परन्तु उन भाषणों को आप उस विषय पर शोध-विमर्श नहीं मान सकते। वे ज़्यादा से ज़्यादा विषय की सरलीकृत टीका थे। उनमें लोकप्रियतावादी दर्शन, सांस्कृतिक बहुलता के सरलीकृत निष्कर्ष, वाक्पटुता तथा भाषिक चमत्कार एवं प्रवाह को ही महसूस किया जा सकता है। इसलिए उनके भाषण बहुत कम प्रकाशित हुए वर्ना उन्होंने जगह-जगह जितने भाषण दिए और श्रोताओं की तालियाँ बटोरीं, तब तो उनके भाषणों के दस खण्ड तो ज़रूर प्रकाशित हो चुके होते, मगर ऐसा नहीं है।

उर्दू के श्रेष्ट आलोचकों में उनकी गिनती होती रही। साहित्य अकादमी द्वारा सैकड़ों

उपकृतों की एक फौज थी जिसकी नजर में नारंग साहब उर्दू आलोचना के सिरमौर थे लेकिन उनके प्रकाशनों पर जब हमारा ध्यान जाता है तो अफसोस होता है कि अपने अन्य समकालीनों के मुक़ाबले उनकी पूंजी अति संक्षिप्त है। 'उर्दू ग़ज़ल और हिन्दुस्तानी जेह्न व तहज़ीब', 'ग़ालिब, माना आफरीनी, जदलियाती वज़्अ, शून्यता और शेरियात' तथा 'काग़ज़े-आतिश दीदा' आदि किताबें उनकी वे पुस्तकें हैं जो पिछले दो दशकों मे प्रकाशित हुईं। इनके प्रभाव पर विचार करें तो ऐसा नहीं लगता कि ग़ालिब या ग़ज़ल को समझने का कोई नया मापदण्ड हासिल हो गया है।

प्रो. गोपीचन्द नारंग वर्तमानतः उर्दू भाषा के सबसे चर्चित आलोचक थे। उनके साथ अनेक कारणों से विवाद भी चलते रहे। पिछले अनेक वर्षों से वे अमेरिका मे अपने पुत्र के साथ रहने लगे थे। वहीं, अपनी साहित्यिक कर्मभूमि से हजारों मील दूर उन्होंने खामोशी से अन्तिम साँसें लीं।

❖

मैथिली की ख्यात लेखिका लिली रे (जन्म 26 जनवरी, 1933-निधन 4 फरवरी, 2022) कई अर्थों में कुछ ख़ास थीं। ब्रिटिश भारत में एक आई.पी.एस पिता के घर जन्मीं लिली ने कान्वेंट शिक्षा हासिल की, बारह की उम्र में एक डॉक्टर से विवाही गईं और अपने जनपद के जुबान की लेखिका बनीं। 1982 में उनके मैथिली उपन्यास 'मरीचिका' के लिए उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला; लेकिन उनकी प्रसिद्धि उनके उपन्यास 'पटाक्षेप' और कुछ कहानियों के लिए है। 'पटाक्षेप' पर कमलानंद झा का लेख हम प्रकाशित कर रहे हैं। यही हमारी श्रद्धांजलि है - संपादक

पटाक्षेप : आन्दोलन का या दमन का?

कमलानंद झा

पिछले पाँच दशकों में विभिन्न राज्य सरकारों का रिकॉर्ड, पश्चिम बंगाल में वाम मोर्चा से लेकर आन्ध्रप्रदेश में कांग्रेस और छतीसगढ़ में भाजपा तक, यह दर्शाता है कि देश की राजनितिक व्यवस्था कभी भी इस (नक्सलवाद) मुद्दे को अपनी पूरी जटिलता में नहीं समझ पायी है। वह शायद ही कभी विद्रोहियों के साथ बातचीत शुरु करना चाहती थी, या आश्रित लोगों को शान्ति प्रक्रिया में भाग लेने के लिए लाना चाहती थी– वे यह महसूस नहीं कर रहे हैं कि यह वे लोग हैं (देश के बुद्धिजीवी जिसे नरेंद्र मोदी की सरकार 'अर्बन नक्सल' कहती है और जिनमें कई लोग जेल में हैं) जो राज्य और विद्रोहियों के बीच एक बफर जोन बनाते हैं और दोनों पक्षों को अपनी कठोरता छोड़ने और संवाद क़ायम करने के लिए प्रेरित करते हैं। - *(द डेथ स्क्रिप्ट-आशुतोष भारद्वाज, हार्पर कॉलिन्स, 2020, पृष्ठ 261)*

नक्सलवाद की पृष्ठभूमि पर लिखा गया लिली रे का उपन्यास 'पटाक्षेप' मैथिली साहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण रचना है। 'पटाक्षेप' सर्वप्रथम 'मिथिला मिहिर' में 1 जुलाई, 1979 से 7 अक्तूबर, 1979 तक कुल तेरह अंकों में धारावाहिक प्रकाशित हुआ। बाद में कथाकर विभा रानी के सौजन्य से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। मैथिली साहित्य परिसर में 'पटाक्षेप' की चर्चा सायास नहीं की गई। कदाचित दूसरी भाषा में यह उपन्यास प्रकाशित होता तो चर्चा के केंद्र

में अवश्य रहता। पटाक्षेप की तुलना में लिली रे का उपन्यास 'मरीचिका' खूब चर्चित हुआ। मैथिल सामंती समाज के विद्रूप चेहरे को मरीचिका में अत्यंत व्यवस्थित और अचूक दृष्टि से उद्‍घाटित किया गया है। कथा हो या उपन्यास नये कथ्य के चुनाव में लिली रे का जवाब नहीं। मैथिली साहित्य के सीमित और पारंपरिक विषय-वस्तु के दुर्ग को तोड़ने में जिन चंद रचनाकारों ने सफलता हासिल की है, उनमें लिली रे अगली कतार में खड़ी दिखती हैं।

'पटाक्षेप' नक्सलवाद विषय पर लिखा गया मैथिली भाषा का इकलौता उपन्यास है। ('हमर जनम किये भेलै हो रामा' को इस विषय का उपन्यास कहना विषय का अपमान है) इस विषय पर अन्य भाषा में भी अत्यल्प रचना ही देखने को मिलती है। दरअसल, जहाँ नक्सलवाद के नाम से ही लोगों को डर होता हो वहाँ इस विषय पर रचना का कम होना स्वाभाविक है। पटाक्षेप की चर्चा कम होने के और भी बहुत से कारण हैं। मिथिला के बुद्धिजीवी नक्सल शब्द से ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। अन्य विकसित भाषा के बुद्धिजीवियों को नक्सल आंदोलन जहाँ आकर्षित-प्रभावित करता रहा है, वहीं मैथिल भद्रलोगों को इस आंदोलन से चिढ़ रही है। फलस्वरूप उन्होंने 'पटाक्षेप' की नोटिस नहीं लेकर इस आंदोलन को तरजीह नहीं देना चाहा। मैथिली के विद्वानों ने इस विषय को भले हेय माना हो लेकिन उनके प्रिय कवि यात्री/नागार्जुन ने तो 'भोजपुर' पर भी कविता लिखी और बन्दूक के छर्रे की 'बारूदी खुसबू' को नाक में भरना भी चाहा। जिस समय लिली रे पटाक्षेप लिख रहीं थीं, उस समय कई भारतीय भाषाओं के बड़े रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस विषय से अपना नाता जोड़ा था। बांग्ला भाषा में महाश्वेता देवी के अतिरिक्त कमलेश सेन, धूर्जटि चट्टोपाध्याय, विपुल चक्रवर्ती, समीर राय, एवं नाबारुण भट्टाचार्य की रचना अपने समय में इस आंदोलन के प्रमुख स्वर बने। तेलुगू साहित्यकारों में श्री चराबंड राजू, बरबर राव, ज्वालामुखी, रचकोंडा, विश्वनाथ शास्त्री एवं निखिलेश्वर आदि इस कतार में पूरे साहस के साथ शामिल थे। पंजाबी साहित्य में अवतार सिंह पाश, सुरजीत पातर, अमरजीत चंदन, लाल सिंह दिल, वरयाम सिंह सिंधु जैसे रचनाकार इस आंदोलन में रचनात्मक हस्तक्षेप कर रहे थे।

नक्सल आंदोलन का हिंसक रूप नकारा जा चुका है। नक्सल या छद्म नक्सलियों द्वारा निर्दोष व्यक्ति व समूह की हत्या का समर्थन कोई विवेकशील प्राणी नहीं कर सकता है। लेकिन नक्सल आंदोलन व नक्सल के बारे में एक पक्षीय 'पाठ' समाज में प्रचारित है। उस पाठ के समानांतर नक्सल आंदोलन को समझना, समस्या के प्रति सत्ता प्रतिष्ठान की उदासीनता, उसके प्रति क्रूर दमनात्मक रवैया आदि साहित्य की चिंता और चिंतन में शामिल रहे हैं। सामंती उत्पीड़न, भूमि का असमान वितरण, वर्ण-व्यवस्थाजन्य अमानुषिक दंश, आदिवासी विस्थापन, सरकार समर्थित कॉर्पोरेट द्वारा संसाधन की लूट आदि इस आंदोलन के मूल हैं।

नक्सल आंदोलन के इतिहास को संक्षेप में समझे बगैर हम 'पटाक्षेप' के मर्म तक नहीं पहुँच सकते हैं। स्वतंत्र भारत के सबसे बड़े, दीर्घजीवी, महत्वपूर्ण और परिवर्तनकामी आंदोलन का नाम है– नक्सलबाड़ी आंदोलन। इस आंदोलन का प्रारंभ 1967 में उत्तरी बंगाल के नक्सलबाड़ी गाँव में जमींदार और खेतिहर मजदूर के संघर्ष से माना जाता है। भारत का

इतिहास जमींदारों और महंथों के शोषण का खुला दस्तावेज रहा है। सहनशक्ति की भी एक सीमा होती है। पानी जब नाक के ऊपर से बहने लगता है तो श्रमिकों की ओर से हिंसक प्रतिरोध आरंभ हो जाता है। इस प्रतिरोध को मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े बुद्धिजीवियों का समर्थन और सहयोग मिला। जिससे यह आंदोलन क्रमशः प्रचंड रूप धारण करता चला गया। नक्सलबाड़ी गाँव में हुए इस आंदोलन से पहले तेलंगाना में भी इस तरह का सशक्त आंदोलन हो चुका था। लेकिन नक्सलबाड़ी गाँव का आंदोलन इतना प्रभावशाली रहा कि वह संज्ञा और विशेषण दोनों बन गया। नक्सलबाड़ी आंदोलन के महत्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि जो आंदोलन एक गाँव से शुरू हुआ धीरे-धीरे लगभग पूरे देश को अपनी ज़द में ले लिया। अक्टूबर 2005 में कोलकाता से प्रकाशित 'फ्रंटियर' के आलेख से इस आंदोलन की परिव्याप्ति का ज्ञान होता है। इस आलेख में रेखांकित किया गया है कि "यह आंदोलन 15 राज्य और 170 जिलों में फैल चुका था, जिसमें लगभग 10 करोड़ जनसंख्या वास करती है। यह देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग एक चौथाई इलाका हो जाता है। देश की कुल आबादी का दसमा हिस्सा।" लेखक टी. विजेंद्र लिखते हैं कि 'नक्सलवादी आंदोलन का यह इलाका दुनिया के कितने देशों के कुल क्षेत्रफल से बड़ा है।'

सत्तर और अस्सी के दशक में नक्सलवादी आंदोलन अपने चरम पर था। लिली रे का 'पटाक्षेप' इसी बीच का उपन्यास है। उस समय कभी-कभी लग रहा था कि वास्तव में क्रांति हो ही जाएगी और कांग्रेस सत्ता के तख्त पलट दिए जाएँगे। सत्ता का दमन चक्र शुरू हुआ। नक्सलवाद से जुड़ी राजनीतिक पार्टियों की वैधता समाप्त कर दी गई। उन दिनों सीपीआईएमएल (लिबरेशन), सीपीआईएम (पार्टी यूनिटी), पीपुल्स वार ग्रुप, माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर आदि ऐसे प्रमुख नक्सलवादी राजनीतिक पार्टियां थीं जो भूमिगत अपनी गतिविधियाँ चला रही थी। उन्हीं दो दशकों में हजारों नक्सलवादी कार्यकर्ताओं का या तो इनकाउंटर कर दिया गया या उन्हें जेल में सड़ने के लिए विवश कर दिया गया। 'पटाक्षेप' में नक्सलवादी आंदोलन की संघर्षगाथा और यातनाकथा दोनों का अद्भुत समावेश देखने को मिलता है। लिली रे का संबंध बिहार और बंगाल दोनों से था। ये दोनों प्रदेश उस समय इस आंदोलन के गढ़ थे। एक सजग और सचेत साहित्यकार के लिए ऐसे महत्वपूर्ण विषय से निरपेक्ष रहना संभव नहीं था। किसी रचनाकार का सामाजिक सरोकार ऐसे समय में अपनी पूरी संभावनाओं के साथ अभिव्यक्ति पाता है। इस पृष्ठभूमि में लिली रे की महत्ता प्रतिपादित होती, वह मैथिली साहित्य को सामाजिक सरोकार और परिवर्तन की आकांक्षा से जोड़ देती हैं।

'पटाक्षेप' में कथा-विन्यास खोजनेवाले पाठकों और आलोचकों को घोर निराशा हाथ लगेगी। क्योंकि इसमें कथा जैसी कोई वस्तु नहीं है। कथा के नाम पर कुछ घटना-कोलाज जरूर हैं। शिवनारायण, अनिल, मनोज, सुजीत एवं दिलीप आदि कुछ सजग और मेधावी नवयुवक वामपंथी विचारधारा से लैस होकर नक्सलबाड़ी आंदोलन में कूद पड़ते हैं। ये सभी पूर्णिया जिला के गाँवों में सक्रिय लेकिन भूमिगत आंदोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। भूमिहीन मजदूर को संगठित कर, जमींदारों के शोषण के विरुद्ध मोर्चा तैयार करते हैं। बटाईदारी जैसे

अंधा कानून का उल्लंघन, श्रमिकों के शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक और आर्थिक शोषण करने वाले जमींदारों और भू-स्वामियों को यह युवक-दल मजा चखाने का अभियान चलाता है। इसी क्रम में कुछ अग्रणी नवयुवक गिरफ्तार हो जाते हैं तो कुछ का इस आंदोलन से मोहभंग हो जाता है। मोहभंग और निराशा के माहौल में उपन्यास समाप्त होता है। इसलिए कहा गया कि उपन्यास में कथा तत्वों का अभाव है किंतु जो भी घटनाएँ हैं उन घटनाओं में अद्भुत गतिशीलता है। घटना में सामनता रहने के बावजूद वर्णन शैली की विशेषता के कारण रचना कहीं से भी उबाऊ नहीं हो पाती। 'रोचक' शब्द यहाँ अनुचित होगा, कारण नक्सल आंदोलन से जुड़ी कोई भी घटना रोचक नहीं कही जा सकती। क्योंकि रोचक शब्द का संबंध मनोरंजन से है। पटाक्षेप सरीखे उपन्यास का उद्देश्य किसी भी तरह से मनोरंजन नहीं हो सकता। क्योंकि 'यह यादें महज यादें नहीं चिंगारियाँ हैं'। इसलिए कहा जा सकता है कि सारे घटनाक्रम रोमांचक हैं, व्यवस्था और सत्ता के निमित्त सोचने हेतु विवश करनेवाले।

'पटाक्षेप' के वैशिष्ट्य को समझने के लिए नक्सलवाद की वैचारिकी से संवाद आवश्यक है। क्योंकि 'पटाक्षेप' का वैचारिक आधार नक्सलवादी आंदोलन है और नक्सलवाद का आधार तेलंगाना विद्रोह। वस्तुतः तेलंगाना विद्रोह की दबी चिंगारी नक्सलबाड़ी में प्रकट हुई और संपूर्ण देश में फैल गई। तेलंगाना के किसानों का सशस्त्र संघर्ष भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन की पहली और स्वतंत्र प्रवृत्ति मानी गई है। भारत के तेलुगु क्षेत्र, जो अब आंध्र प्रदेश कहलाता है, वहाँ के कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों और नेताओं ने इस संघर्ष का संगठन किया और उसे नेतृत्व प्रदान किया। 1945-46 में तेलंगाना में किसान और सामंतों के बीच का अंतरविरोध अपने चरम पर था। आरंभ में यह आंदोलन मात्र काश्तकारी अधिकार को बनाए रखने और सामंती शोषण के विरुद्ध था। लेकिन जब निजाम सरकार और जमींदारों ने मिलकर आंदोलन को कुचलने का प्रयास किया तो आंदोलन धीरे-धीरे प्रचंड रूप धारण करता चला गया। संगठित गुंडा, पुलिस और निजाम की फौज के समवेत आक्रमण के विरुद्ध जब किसानों ने हथियार उठा लिया तो निजाम-शासन को उखाड़ कर ही संतोष प्राप्त किया।

आज यदि देश से जमींदारी प्रथा उठी है, सामंतवादी शोषण की गति कुंद पड़ी है, दलित चेतना का उभार देखने में आ रहा है और बहुत हद तक भूमिसुधार हुए हैं तो इन सब में इस तरह के आंदोलनों तथा 'पटाक्षेप' जैसी रचनाओं का विशेष महत्त्व है। भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास के गंभीर अध्येता और 'माओइज्म इन इंडिया' के लेखक मोहन राम 'इकोनॉमिक्स एंड पॉलीटिकल वीकली' नामक पत्रिका में तेलंगाना विद्रोह की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं, "तेलंगाना के विद्रोह को हराया नहीं जा सका। निवेदन के पश्चात उसे वापस लिया गया। इस आंदोलन में 16000 वर्ग मील का क्षेत्र जिसमें 3000 गाँव थे, मुक्त हुए। डेढ़ वर्ष तक वहाँ की संपूर्ण शासन व्यवस्था गाँव के किसान समिति के हाथ में रही। 4000 किसान तथा पार्टी गुरिल्ला इस संघर्ष में शहीद हुए। 10000 कम्युनिस्ट कार्यकर्ता चार वर्ष तक जेल में रहे। इस आंदोलन में 30 लाख एकड़ जमीन भूमिहीनों के बीच बाँटी गई। बेगार-प्रथा बंद हुई। शोषण और सामंतवादी दमन भी खत्म हुआ। सबसे मार्के की बात यह कि इस आंदोलन ने कृषि-क्रांति के प्रश्न को बिल्कुल आमने सामने खड़ा कर

दिया। परिणामस्वरूप कांग्रेस पार्टी को भूमिसुधार कार्यक्रम लाना पड़ा।"

लोकवृत्त में यह भी प्रचलित है कि लेखिका के एक पुत्र सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री रविंद्र रे इस आंदोलन के सक्रिय सदस्य भी थे। इसलिए लिली रे इस आंदोलन की भोक्ता भी रहीं हैं। पंजाबी कवि पाश के शब्दों में कहें तो 'मैंने लोहा खाया है आप लोहे की बात करते हो'। उनकी कर्मस्थली बंगाल में इस तरह के बड़े-छोटे संघर्षपूर्ण आंदोलन खूब जोर पकड़ने लगे थे। सन् 1971 में पूर्णिया जिला के चंदवा रूपसपुर गाँव में संथाल हत्याकांड, जिसमें संथालों के घर में आग लगा दी गई और गोली चलाई गई। यह मात्र संयोग नहीं है कि 'पटाक्षेप' कथा का ताना-बाना पूर्णिया जिला ही है। मई, 1973 में भोजपुर जिला के देवरी गाँव हत्याकांड; जिसमें 7 मजदूर-किसान पुलिस की गोली से मारे गए। 30 नवंबर, 1973, मधुबनी का सेलिबली हत्याकांड, जिसमें 8 भूमिहीन गरीब किसान को महंथ, जमींदार और उनके गुंडों ने गोलियों से भून डाला था। इस धारावाहिक हत्याकांड और शोषण की निरंतरता ने बिहार में नक्सलवाद को जन्म दिया। नक्सलवाद की सूक्ष्म और महीन रचनात्मक अभिव्यक्ति का नाम है– 'पटाक्षेप'। उपन्यास की इस पृष्ठभूमि से यह समझना कठिन नहीं है, सन् 1998 में साहित्य अकादमी, नई दिल्ली से प्रकाशित जयकांत मिश्र रचित 'मैथिली साहित्यक इतिहास' में पटाक्षेप का नामोल्लेख क्यों आवश्यक नहीं समझा गया। लेकिन दूसरे साहित्येतिहासकार दुर्गानाथ झा 'श्रीश' ने इस ऐतिहासिक महत्त्व के उपन्यास को अत्यंत महत्वपूर्ण माना और लिखा, "पटाक्षेप में उपन्यासकार का नक्सलवादी क्रांति भावना के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और प्रगतिशील प्रवृत्ति का दर्शन होता है। परंतु मैथिली साहित्य के इतिहास में इस उपन्यास का महत्त्व विषयगत नवीनता और ज्वलंत राजनीतिक विचारधारा को रोचक शैली में मैथिली उपन्यास का विषय बनाने के कारण है। इस उपन्यास में श्रीमती लिली रे में श्रेष्ठ उपन्यासकार की सारी प्रतिभाओं के संकेत प्राप्त होते हैं।"

रे 'पटाक्षेप' में नक्सलवादी आंदोलन की वैचारिकी और संघर्ष की कथा ही नहीं कहतीं हैं बल्कि मैथिल समाज और पाठक का इस आंदोलन से परिचय भी कराती चलती हैं। इस आंदोलन के अगुआ किस तरह के नेता हुआ करते थे, इसकी सूचना देते हुए लिली रे उपन्यास के आरंभ में ही लिखती हैं, "शिवनारायण पहले कम्युनिस्ट पार्टी में था। सन् 62 के बाद अलग होकर सीपीएम में चला गया। अब सीपीएमएल के लिए अप्रत्यक्ष रूप से काम कर रहा है।" आशय स्पष्ट है कि बिहार में नक्सल आंदोलन मुख्य रूप से एमएल के नेतृत्व में चला और इस पार्टी की सभी गतिविधियाँ गुप्त हुआ करती थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि– "पार्टी भूमिगत थी। इसलिए सारे कार्य गुप्त रूप से चल रहे थे। यदि किसी सेंटर पर थोड़ा भी संदेह होता तो शेल्टर बदल दिया जाता। पहचान हो जाने के भय से किसी कैडर को अपने प्रदेश में कार्य नहीं करने दिया जाता था।"

नक्सल आन्दोलन में शेल्टर की भूमिका सबसे अहम होती है। जिस गाँव में नक्सल ओपरेशन चलता है, सबसे पहले उस गाँव में कुछ ग्रामीणों को वे अपना विश्वास पात्र बनाते हैं। उन्हें कैडर का कठिन प्रशिक्षण दिया जाता है। उसी के घर में नक्सल कार्यकर्त्ता उसके संबंधी या कुटुंब बनकर रहते हैं। पुलिस कितनों की तहकीकात करे, परेशान करे। वे उसकी

असली पहचान नहीं बताते हैं। उपन्यासकार को शेल्टर की छोटी-से-छोटी बात की जानकारी है, "सबसे पहले उसने (अनिल) पूर्णिया में दो और शेल्टर खोले। एक शेल्टर का पता सभी कार्यकर्ता को था। लेकिन दूसरे शेल्टर का पता मात्र पुराने कार्यकर्ताओं को था। यदि भीड़ अधिक हो गयी तो तीसरे शेल्टर का भी उपयोग होता। यह तीसरा शेल्टर अति गुप्त होता। कुछ ही कार्यकर्ताओं को इसकी जानकारी होती। लिखित कागज़ और गुप्त डॉक्यूमेंट यहीं रहता।"

पटाक्षेप में नक्सल आंदोलन की विसंगतियों और विडंबनाओं को भी प्रकाश में लाने की कोशिश की गई है। न जाने कितने गुंडा-तत्व भी छद्म नक्सल कार्यकर्ता बन जाया करते हैं। नक्सलियों से गाँव के समृद्ध किसान बहुत डरते हैं। वह गुंडा-तत्व नक्सल संघर्ष के नाम पर डाका डालते हैं। बिहार में हम देखते हैं कि व्यक्तिगत दुश्मनी के लिए सामूहिक रूप से निर्दोष लोगों की हत्या हो जाती है और नाम एमसीसी या किसी नक्सल पार्टी के मत्थे मढ़ दिया जाता है। तहकीकात से बचने हेतु सरकारी तंत्र को भी यह नाम सुविधाजनक लगता है। उपन्यास में रामचंद्र सिंह ऐसा ही चरित्र है। कामरेड मनोज उसकी असलियत बताते हैं, "मुरसँडा बहियार में रामचंद्र सिंह ने एक धान भी नहीं छुआ और हम लोगों ने उस पर पार्टी का लेबल चिपका दिया। उसी नाम पर अब वह खुलकर डकैती करता है। अभी तक वह बारह डकैती कर चुका है। थर्नी परवै के घर में उसके बच्चे को पहनने के लिए कपड़ा तक नहीं छोड़ा। थर्नी परवै सदाय हमलोगों से सहानुभूति रखता है। जन-मजदूर उसे अपना आदमी समझते हैं। विपत्ति के समय सभी उसी के पास जाते हैं। उस थर्नी परवै की भीत पर लिख दिया "नक्सलबाड़ी जिंदाबाद, श्री काकुलम-लाल सलाम!" और उसके बाद लूट। लोग क्षुब्ध होकर देखते रहे। लोग यही समझते हैं कि सारी डकैती पार्टी करवा रही है।"

आंदोलन की विफलता में इन तत्वों का भारी योगदान रहा है। कोई भी आंदोलन विश्वास और भरोसे की जमीन पर चलता है, जनता की आस्था पर चलता है। ये अराजक-तत्व पार्टी के प्रति जनता के विश्वास को तोड़ने में खूब सफल हुए हैं। प्रतिबद्ध कार्यकर्ता पार्टी की साख बचाने के लिए लुटे-पिटे 'घरवैया' के पास जाकर मदद करने का प्रयास करते हैं तो उल्टे फंस जाते हैं। डकैत समझकर लोग उसकी काफी लानत-मलानत करते हैं। लेखिका लिली रे ने नक्सल आंदोलन की इस विडंबना को अत्यंत मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त किया है, "200 रु लेकर जब सुजीत थर्नी परवै के यहाँ पहुँचा तो वह बिना कुछ सुने सुजीत को थप्पड़ मारने लगता है- 'रे भेदिया, लूटै लेल तोरा हमारे घर भेटल छलहु? तोहीं, तोहीं सभटा चर-चित लेब आयल छलैं। तोरा थाना मे पकड़बाक हम निचैन हैब।' और एक बार फिर सुजीत को बांध दिया। थर्नी परवै दरोगा को खबर करने बाहर निकल गया।"

मैथिली में एक स्त्री की कलम से नक्सलबाड़ी आंदोलन पर उपन्यास लेखन और वह भी सन् 1979 में एक 'अजगुत' बात है। आश्चर्य का विषय यह है कि मैथिली आलोचकों ने इसकी नोटिस नहीं ली। सास-दामाद के दैहिक सम्बन्ध पर आधारित लिली रे की कहानी 'रंगीन पर्दा' पर खूब चर्चा-कुचर्चा, लेकिन पटाक्षेप पर 'मौन व्रत' के निहितार्थ को समझा जा सकता है। हिन्दी में भी एक तो नक्सल आंदोलन पर उपन्यास बहुत कम हैं और जितने

भी हैं उन पर आलोचकों की दृष्टि जा नहीं सकी। हिंदी में निर्भय मल्लिक इस विषय पर सशक्त उपन्यास लिखने वालों में हैं। लेकिन गुमनाम हैं। बांग्लाभाषा की प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी निर्भय मल्लिक को 'भीड़-राग' से भिन्न रचनाकार मानती हैं। 7 दिसंबर, 2008 के 'दैनिक हिंदुस्तान' में महाश्वेता ने विस्तार से निर्भय मल्लिक की रचनाधर्मिता पर विचार किया है। उनके उपन्यास 'घात-प्रतिघात' की पृष्ठभूमि नक्सलबाड़ी आंदोलन की है। महाश्वेता देवी के शब्दों में, "उपन्यास में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में घटनाओं को इस तरह चित्रित किया गया है कि प्रत्ययों के संदर्भ में उसके पाठ से एक किस्म का इतिहासबोध भी प्रकट होता है। हिमाद्रि, अखिलेश, चित्र, खलील और बुलू जैसे पात्रों के माध्यम से जनविरोधी राजसत्ता के विरुद्ध उभरे नक्सल आंदोलन का प्रामाणिक और जीवंत चित्र निर्भय ने उपस्थित किया है।" 'घात-प्रतिघात' के अलावा 'प्रतिवाद' और 'कालपुरुष' इस विषय पर लिखा गया मल्लिक का श्रेष्ठ उपन्यास है। मधु कांकरिया ने भी 'खुले गगन के लाल सितारे' नाम से इस विषय पर अच्छा उपन्यास लिखा है। यह उपन्यास भी चर्चित नहीं हो सका। बांग्ला में इस विषय पर पर्याप्त रचनात्मक लेखन उपलब्ध है। किंतु महाश्वेता देवी का उपन्यास '1084वें की माँ' और 'पटाक्षेप' में कुछ अद्‌भुत समानताएँ हैं। दोनों उपन्यास के रचनाकार स्त्री हैं। 'पटाक्षेप' 1979 में धारावाहिक प्रकाशित होता है और '1084वें की माँ' भी 1979 में हिन्दी में अनूदित होकर राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित होता है। निश्चित रूप से महाश्वेता देवी उत्तम कोटि की रचनाकार हैं किंतु नक्सलवादी संघर्ष और व्यापकता की दृष्टि से 'पटाक्षेप' '1084वें की माँ' से आगे की रचना है। '1084वें की माँ' कार्यकर्ता की माँ की दृष्टि से लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में एक माँ की भावना ज्यादा प्रबल है। लेकिन पटाक्षेप में नक्सल संघर्ष जीवंत हो उठा है। इसमें संघर्ष का विस्तार से वर्णन हुआ है। कार्यकर्ता का गुरिल्ला युद्ध, उनकी गतिविधियाँ, गुप्तवास, सहयोगी भावना और अंतर्द्वंद आदि सब कुछ बहुत स्पष्ट होकर उपस्थित हुआ है।

नक्सल संघर्ष का वर्णन महाश्वेता देवी का अभीष्ट नहीं था, इसलिए यहाँ उसका वर्णन प्रक्षिप्त है। लेकिन एक माँ की अथाह वेदना और पीड़ा अद्‌भुत रूप से इस उपन्यास में अभिव्यक्त हुई है। उपन्यास में सत्ता के दमनकारी रूप को अनावृत कर दिया गया है। सत्ता के कवच-कुंडल रूपी जेल का वर्णन करते हुए कथानायिका नंदिनी कहती है, "ये कमरे कुछ और ही तरह के होते हैं। एकदम शब्द या गूँज से सुरक्षित। दरवाजे, खिड़कियाँ नमदे से ढके, रबर के नल लगाकर आवाज अंदर-बाहर न आ जा सके, ऐसी व्यवस्था से बने। कमरे की चीख, कराह, मारने की आवाज, जिरह करने वाले की दहाड़ यह सब आवाज उस कमरे में ही कैद रहती है। उस कमरे में जिससे जिरह की जाती है उसकी आँखों के आगे हजार वाट की बत्ती जलती रहती है। जिरह करनेवाला अंधेरे में रहता है। चाहे वह सिगरेट पीता हो या नहीं उसके हाथ में सिगरेट थमी रहती है।... महीन आवाज में नम्रता और भव्यता से प्रश्न पूछते हुए कभी-कभी जिरह करने वाले सज्जन हजार वाट की बत्ती में चमकने वाले चेहरे पर जलती हुई सिगरेट का धुआँ देते हैं।"

महाश्वेता ने उपन्यास का नाम बहुत सोच विचार कर रखा है। पोस्टमार्टम में मृत व्यक्ति का नाम नहीं नंबर दिया जाता है। कथानायक व्रती की लाश संख्या 1084 है। शिल्प-संरचना की दृष्टि से भी लेखिका सचेत दिखती हैं। फ्लैशबैक और वर्तमान की आवाजाही कथानक को गतिशील बनाती है। '1084वें की माँ' पर निर्देशक श्याम बेनेगल ने इसी नाम से बेहतरीन फिल्म बनाई, जिसमें जया बच्चन ने व्रती की माँ के किरदार को जीवंत कर दिया है। काश, 'पटाक्षेप' पर भी मैथिली में सिनेमा बन सकती थी। लेकिन मैथिली फ़िल्म अभी भी विवाह और रोमांस से बाहर निकले के लिए तैयार नहीं है।

हजार चौरासी वें की माँ की तुलना में पटाक्षेप की विशेषता यह है कि यह उपन्यास आंदोलन की संघर्षपूर्ण यात्रा है। इसमें संघर्ष जितना मुखर है, हजार चौरासीवें की माँ' का नहीं। 'पटाक्षेप' में सत्ता की शोषणकारी और दमनकारी नख-दंत से साक्षात्कार रोंगटे खड़े करनेवाले हैं, "गझिन साँझ में सुजित की नींद खुली। बाहर किसी को मार पड़ रही थी।...प्रायः बड़ी जोर की लाठी। आसामी जोर से किकिया उठा–

'बोल! जल्दी बोलो नही तो...'

'बोलता हूँ। पहले पानी...'

'साला! पहले अपना असली नाम बता।'

'महेश सिंह...'

खंभे से पेट्रोमेक्स उतार लिया। बासुदेव को लटका दिया गया था। तलवे पर लाठी का प्रहार। जिस बार असह्य हो जाता वासुदेव पाँव मोड़ लेता। लाठी ठेहुने पर बरसती। बासुदेव कराह उठा। पैर पुनः लटक गया था–

'बोलो, तुम इसको पहचानते हो कि नहीं?'

'मैंने इसे पहले कभी नहीं देखा।'

'देखा नहीं है तो यह तुम्हें कैसे पहचानता है?'

'झूठ बोल रहा है।'

'अभी पता चलेगा कि कौन झूठ बोल रहा है?' और लाठी लगातार बरसने लगी। इस तरह की यातना उस आंदोलन के समय और इमरजेंसी के टाइम में हजारों-हजार युवकों को दी जा रही थी। उसी में था पटाक्षेप का सुजीत, दिलीप, मनोज और 'हजार चौरासीवें की माँ' का व्रती, विजित, पार्थ, लालटू, नंदिनी आदि-आदि।

आंदोलन के मद्देनजर 'पटाक्षेप' नाम विवादास्पद है। यदि यह उपन्यास आंदोलन के सकारात्मक प्रभाव के लिए लिखा गया है तो इसका नामकरण उचित नहीं। क्योंकि नामकरण घोर नकारात्मक है। 'पटाक्षेप' अर्थात समाप्त। मतलब आंदोलन खत्म। किंतु परिणति तक बिना पहुँचे यदि आंदोलन समाप्त हो जाता है तो आंदोलन विफल कहा जाएगा। नामकरण में आशा, आकांक्षा ही नहीं बल्कि भविष्य के सपने भी पलते हैं। यदि उपन्यास नक्सल आंदोलन के विरोध में लिखा गया है तो नामकरण उचित है, क्योंकि नामकरण में लेखिका आंदोलन का अंतिम संस्कार कर देती हैं। उपन्यास का अंत भी इसी धारणा को पुष्ट करता है। संभव है लिली रे ने आंदोलन की आलोचना में इस उपन्यास को लिखा हो। उपन्यास के सभी कैडरों

का आंदोलन से मोहभंग हो जाता है। किसी न किसी तरह आंदोलन से 'पगहा' तोड़कर सभी अपने-अपने धंधे में लग जाते हैं। कैडर का अगुआ शिवनारायण जो बटाईदारी आंदोलन का अग्रणी नेता था स्वयं अपनी जमीन बटाई पर लगाने लगता है और शोषण की प्रक्रिया में शामिल हो जाता है। इतना ही नहीं वह पार्टी भी छोड़ देता है। मनोज का भी पार्टी से मोहभंग हो जाता है। अनिल को घर वापस जाने की इच्छा होने लगती है। सुजित गिरफ्तारी के बाद घर चला जाता है। दिलीप भी घर की राह पकड़ लेता है। नक्सल कार्यकर्ताओं को शेल्टर देने वाले रामदेव और वासुदेव जेल में सड़ रहे होते हैं। पटाक्षेप! इस तरह लिली रे आंदोलन का पटाक्षेप कर देती हैं। लिली रे इस आंदोलन की पक्षधर नहीं थी, यह बात उपन्यास के अंत से स्पष्ट हो जाता है। एक दैनिक समाचार पत्र के पूर्व वरिष्ठ पत्रकार और हिंदी-मैथिली के रचनाकार नरेंद्रजी ने व्यक्तिगत रूप से बताया कि लिली रे ने 'पटाक्षेप' नक्सल आंदोलन के समर्थन में नहीं विरोध में लिखा था। लिली रे को जब प्रबोध साहित्य सम्मान मिला तो नरेंद्र ने उनसे साक्षात्कार लिया था। साक्षात्कार में लिली रे ने यह बात स्वीकार की थी कि 'पटाक्षेप' आंदोलन के पक्ष में लिखा गया उपन्यास नहीं है। (दुख की बात है कि उक्त पंक्ति के लेखक को वह साक्षात्कार नहीं मिल पाया)

प्रश्न यह उठता है कि उपन्यास आंदोलन के पक्ष में लिखा गया हो या विरोध में, इसमें द्वंद क्यों? लेखिका की स्वीकारोक्ति की क्या आवश्यकता? उपन्यास अपनी बात खुद कहेगा। दिक्कत यह है कि उपन्यास का ट्रीटमेंट आंदोलन के पक्ष में है किंतु उपन्यास की निष्पत्ति आंदोलन के विरोध में चली जाती है। लिली रे का उद्देश्य आंदोलन के विरोध में उपन्यास लिखना रहा होगा लेकिन लेखिका की रचनात्मक माँग (क्रिएटिव अर्ज) रचनाकार से छिटक गई। व्यक्ति लिली रे के विचार पर उपन्यासकार लिली रे हावी हो गईं। बड़े रचनाकारों में इस तरह की बात पायी जाती है। टॉलस्टॉय परंपरावादी विचार के पोषक थे। उसी तरह का उपन्यास लिखना चाहते थे। किंतु उपन्यास क्रांतिकारी बन गया। व्यक्ति टॉलस्टॉय पर रचनाकार टॉलस्टॉय भारी पड़ गया। पटाक्षेप में जिस तरह से व्यापकता के साथ आंदोलन को मूर्त रूप प्रदान किया गया है; कैडरों की कृतज्ञता, ईमानदारी, जुझारूपन, बलिदान, संघर्ष का जज़्बा और सहयोगी भावना की प्रतिष्ठा की गई है, यह नहीं कहा जा सकता है कि उपन्यास आंदोलन के समर्थन में नहीं लिखा गया है। हाँ, आंदोलन की विसंगति और विडंबना अवश्य रेखांकित हुई हैं। किंतु यह उपन्यास का विरोध या सीमा नहीं कही जा सकती। या तो उपन्यास का संपूर्ण कथ्य उपन्यास के निष्कर्ष का साथ नहीं दे पाया है या निष्कर्ष कथ्य का संग नहीं दे पाया है। यह कहना बहुत उचित नहीं कि आंदोलन का जो हस्र हुआ उपन्यास में उसी का यथार्थ अंकन हुआ है। सन 1979 में यह निष्कर्ष निकालना हड़बड़ी में निकाला गया निष्कर्ष माना जाएगा। दूसरा, साहित्य हुबहू समाज का दर्पण नहीं होता, उसमें रचनाकार की अपनी दृष्टि, कल्पना, समाज के प्रति उसकी आकांक्षा, सपने सभी मिश्रित होते हैं। यही साहित्य का सर्जनात्मक डिस्टॉर्शन है।

विधागत दृष्टि से नायक का अभाव उपन्यास का एक कमजोर पक्ष है। वैसे नायक की अवधारणा में आमूलचूल परिवर्तन स्वाभाविक है। अब उच्च-कुल-गोत्र के अपराजेय नायक

की दरकार नहीं रह गई। लेकिन कमजोर ही सही, तनावग्रस्त ही सही, थका-हारा-टूटा ही सही उपन्यास में एक नायक-नायिका की उपस्थिति कथ्य में रोचकता और विविधता लाती है। रचना का डायमेंशन बढ़ जाता है। पटाक्षेप के आरंभ से यह पता चलता है कि शिवनारायण उपन्यास का नायक है। लेकिन कथानक जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, शिवनारायण का नायकत्व समाप्त हो जाता है। उपन्यास में नायिका क्या, एक भी स्त्री पात्र नहीं है। जैसे स्त्री को इस आंदोलन से कोई सरोकार ही न हो। जबकि लिली रे खूब अच्छी तरह जानती हैं कि प्रगतिशील विश्वविद्यालय की छात्राएँ इस आंदोलन से खूब प्रभावित थीं। कितनी लड़कियाँ तो होल टाइमर हो गई थीं। प्रेम-प्रसंग तो इस तरह के आंदोलनों की प्रमुख उपकथा रहा है। नक्सलबाड़ी आंदोलन पर सुधीर मिश्रा की फिल्म 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' में प्रेम-प्रसंग को खूब अच्छी तरह से फिल्माया गया है। क्योंकि क्रांति, परिवर्तन और बदलाव एक तरह के रोमांटिक भाव ही हैं। इस सिनेमा की नायिका गीता और 'हजार चौरासी की माँ' की नंदिनी का चरित्र सिनेमा और उपन्यास को सर्वथा नया आयाम दे जाता है।

परिष्कृत सौंदर्यबोध किसी भी रचना को गरिमामय बनाता है। अब जबकि उपन्यास में स्त्री पात्र हैं ही नहीं, तो सौंदर्यबोध आये कहाँ से? लेकिन इस तरह की सोच सौंदर्य के प्रति पुरुष-दृष्टि का परिचायक है। पुरुषों में भी सौंदर्य होता है। चूँकि अधिकांशतः रचनाकार पुरुष हुए तो स्त्री सौंदर्यबोध का प्रतिमान बन गई। सक्रिय और सांद्र सौंदर्य देखना हो तो श्रम-सौंदर्य की तलाश करनी चाहिए। सौंदर्य का अपना वर्ग चरित्र भी होता है। प्रगतिशील आंदोलन में श्रम-सौंदर्य की विलक्षण अभिव्यक्ति हुई है। सौतार जाति की पहचान श्रमिक जाति के रूप में होती रही है लिली रे इस जाति का सौंदर्य वर्णन करती हैं– "लोमरहित स्त्री-पुरुष दूर से प्रतिमा जैसे दिख रहे हैं। अनावृत पीठ का काला रंग धूप में और गाढ़ा हो गया है और उस पर से टपकता पसीना। दिलीप को लगा जैसे संगमरमर-पत्थर की मूर्ति पर किसी ने पानी छींट दिया हो। पकते धान के बीच मशीन सदृश्य काज करते लोहा जैसे हाथ।" गद्य में इतना सुंदर उपमा अलंकार का उपयोग कम मिल पाता है। यह शानदार सौंदर्य-वर्णन 'पटाक्षेप' की मरुभूमि में जलाशय जैसा सुखद है।

'पटाक्षेप' की भाषा की जितनी तारीफ की जाए कम है। क्योंकि इसकी भाषा कथ्य के एकदम अनुकूल है। पूरा उपन्यास ग्रामीण परिवेश का है। उपन्यास के केंद्र में निम्न जाति के पात्र अधिक हैं, इसीलिए लिली रे भाषा को अधिक से अधिक सरल और सुबोध बनाती हैं, छोटे-छोटे वाक्य भाव ग्रहण करने में सहायक हुए हैं। उपन्यास में नक्सल शब्दावलियों का खूब प्रयोग हुआ है, जिससे कथानक में विश्वसनीयता बढ़ गई है। भाषा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है-नाटकीयता। 'पटाक्षेप' की आधे से अधिक भाषा संवादपरक है। संवाद कथानक में गति लाता है। संवाद पाठक को अपने साथ दूर तक ले जाता है। वर्णनात्मक या विवरणात्मक भाषा पाठक को रचना से दूर कर देती है। लेकिन संवाद पाठक को रचना से जोड़ता है। इस दृष्टि से लिली रे की भाषा अनुपम है।

नक्सल समस्या पर महत्वपूर्ण भारतीय भाषाओं की रचनाओं और संस्कृतकर्मियों के बीच लिली रे का उपन्यास 'पटाक्षेप' मैथिली भाषा को आधुनिक और विविधतापूर्ण तो बनाता ही

है साथ ही उपन्यासकार लिली रे को सचेत और सरोकार सम्पन्न रचनाकार के रूप में पंक्तिबद्ध करता है।

सन्दर्भ –

1. क्या नक्सलवादी आन्दोलन जिन्दा रहेगा? टी. विजयेन्द्र, फ्रंटियर, कोलकाता, अक्टूबर 2005
2. इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, 9 जून 1973, उद्धृत- नक्सलबाड़ी के दौर में, सं-वीरभारत तलवार, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नयी दिल्ली, पृष्ठ 459
3. मैथिली साहित्यक इतिहास, श्री दुर्गानाथ झा 'श्रीश', भारती पुस्तक केंद्र, लहेरियासराय, दरभंगा, 1983, पृष्ठ 318
4. पटाक्षेप, लिली रे, मिथिला मिहिर, 1 जुलाई 1979, पृष्ठ 15
5. वही
6. वही, 17
7. वही, पृष्ठ 25
8. दैनिक हिन्दुस्तान,7 दिसम्बर 2008
9. 1084वें की माँ, महाश्वेता देवी, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1979, पृष्ठ 87
10. पटाक्षेप, लिली रे, मिथिला मिहिर, 1 जुलाई 1979, पृष्ठ 17
11. वही, पृष्ठ 18

(मूल मैथिली में। लेखक द्वारा हिन्दी अनुवाद)

❖

‘हृदय की अनुकृति’ और ‘हृदय की मुक्तावस्था’

कमलेश वर्मा

छायावाद, रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद का समय लगभग एक है। छायावाद अपनी भावुकता के लिए, शुक्लजी अपनी बौद्धिकता के लिए और प्रेमचंद अपने सामाजिक यथार्थ के लिए जाने जाते हैं। इन तीनों को तीन क्षेत्रों के लिए पहचाना जाता है। छायावाद को कविता के लिए, शुक्लजी को आलोचना के लिए और प्रेमचंद को कथा-साहित्य के लिए पहचाना जाता रहा है। छायावादी कवियों ने आलोचना लिखी मगर वे जाने गए अपनी कविताओं के लिए। शुक्लजी ने कविताएँ लिखीं मगर वे जाने गए आलोचना के लिए। प्रेमचंद साहित्य को जीवन की आलोचना मानकर लिखते रहे मगर उनकी पहचान रही कथाकार की।

इन तीनों के बीच कुछ समानताएँ भी मिलती हैं। इनके बीच के अंतर को कई तरह से बताया जा चुका है, इसलिए इस पक्ष पर इस आलेख में बात नहीं की जाएगी।

यहाँ समानताओं की तलाश का आधार शब्द-प्रयोग को बनाया जा रहा है। 2019 में मेरी पुस्तक ‘छायावादी काव्य-कोश’ का प्रकाशन हुआ था। उसके बाद से मैं रामचंद्र शुक्ल के शब्द-प्रयोगों पर काम कर रहा हूँ। ‘छायावादी काव्य-कोश’ में छायावाद के चारों प्रमुख कवियों (प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी) की समस्त छायावादी कविताओं से पदों और पदबंधों की प्रविष्टियाँ ली गयी हैं। इसी तरह से रामचंद्र शुक्ल की विभिन्न पुस्तकों से पद और पदबंध की प्रविष्टियाँ ली जा रही हैं। इनके सहारे विषय को समझने के पुख्ता आधार प्राप्त होते हैं। प्रेमचंद पर भी इसी तरह से काम करने की मेरी योजना है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद पर बात करते हुए प्रायः कविताओं की बात की जाती है। छायावादी युग (1918-36) में ही शुक्लजी और प्रेमचंद का लेखन संपन्न हो रहा था। प्रेमचंद 1936 में और रामचंद्र शुक्ल 1941 में गुज़र गए थे। केवल संयोग नहीं है कि रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण की बात करते हुए प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल और निराला पर अलग-अलग पुस्तकें लिखीं। कथा-साहित्य, आलोचना और कविता के भीतर एक ही दौर में वे नवजागरण के चिह्नों को रेखांकित कर रहे थे।

इन तीनों के बीच के रिश्ते को पदों और पदबंधों के सहारे व्याख्यायित करने का एक विनम्र प्रयास इस लेख में इसलिए किया जा रहा है ताकि छायावाद को उस दौर के केंद्र में

रखकर देखा जा सके! लेख के शुरू में यह बात कही गयी है कि छायावाद अपनी भावुकता के लिए, शुक्लजी अपनी बौद्धिकता के लिए और प्रेमचंद अपने सामाजिक यथार्थ के लिए जाने जाते हैं। भावुकता, बौद्धिकता और सामाजिक यथार्थ के सम्मिलित रूप को इन तीनों में देखने-दिखाने का प्रयास किया जा सकता है। छायावाद में बौद्धिकता और सामाजिक यथार्थ को, शुक्लजी में भावुकता और सामाजिक यथार्थ को एवं प्रेमचंद में भावुकता और बौद्धिकता को चिह्नित करते हुए एक समग्र-समेकित रूप सामने लाने का प्रयास किया जा सकता है।

नमूने के तौर पर यहाँ 'हृदय' शब्द को लिया जा रहा है। हृदय और हृदय से बने पद और पदबंधों की उपस्थिति और उनकी अर्थ-परिधि पर बात करते हुए ऊपर के संकल्प के अनुसार कुछ विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

'छायावादी काव्य-कोश' में 'हृदय' से सम्बंधित प्रविष्टियाँ इस प्रकार हैं– 'हृतंत्री की लय', 'हृत्कंपन', 'हृत् तंत्री', 'हृत्तंत्री', 'हृत्तल', 'हृत्पथ में धूल', 'हृदय-कंप', 'हृदय का कुसुम', 'हृदय का राजस्व', 'हृदय का स्वाधिकार', 'हृदय की अनुकृति', 'हृदय की चिर खोज', 'हृदय की तृप्ति', 'हृदय की परवशता', 'हृदय की सौंदर्य-प्रतिमा', 'हृदय-कुसुम', 'हृदय के हास', 'हृदय-क्षत', 'हृदय दो', 'हृदय-नभ-तारा', 'हृदय-निःस्वन', 'हृदय-निकष', 'हृदयपयोधि', 'हृदय-पुलिन', 'हृदय भेदिनी दृष्टि', 'हृदय मरुस्थल', 'हृदय मूर्च्छना', 'हृदय-रत्न-निधि' 'हृदय रुद्र कपाट', 'हृदय विपिन की कलिका', 'हृदय-सर', 'हृदय-हर, 'हृदय-हार', 'हृदय है पास', 'हृदयाधिकारी', 'हृदयाब्धि', 'हृदयालंकार', 'हृदयों की शिशुता', 'हृद्धाम', 'हीरे-सा हृदय'।

अभी तक मैंने रामचंद्र शुक्ल की केवल चार पुस्तकों से प्रविष्टियाँ ली हैं। वे पुस्तकें हैं– 'मलिक मुहम्मद जायसी', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'सूरदास' और 'रसमीमांसा'। इन चारों पुस्तकों से ली गयी प्रविष्टियाँ इस प्रकार हैं– 'हृत्कमल', 'हृदय', 'हृदय का बंधन खुलना', 'हृदय का भीतरी मूल देश', 'हृदय की प्रकृत दशा, 'हृदय की मुक्त दशा, 'हृदय की मुक्तावस्था, 'हृदय की मुक्ति की साधना, 'हृदय की वह कोमलता', 'हृदय की विशालता', 'हृदय की वृत्तियाँ', 'हृदय की सामान्य वृत्ति', 'हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला', 'हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष', 'हृदय प्रसार का स्मारक स्तंभ', 'हृदयग्राह्य पक्ष का प्रत्यक्षीकरण', 'हृदयपक्ष तथा स्वानुभूति पक्ष', 'हृदयसाम्य का अनुभव', 'हृदयहारिणी और व्यापकत्वविधायिनी पद्धति'।

छायावादी कविता और रामचंद्र शुक्ल के आलोचनात्मक लेखन में 'हृदय' और इससे बने शब्दों का एक विवरण ऊपर की दोनों सूचियों में दिया गया है। 'छायावादी काव्य-कोश' में इनसे सम्बंधित काव्य-पंक्तियाँ सन्दर्भ-सहित दी गयी हैं। वहाँ से प्रत्येक शब्द के प्रयोग को देखा जा सकता है। इसी तरह से जब 'रामचंद्र शुक्ल कोश' तैयार हो जाएगा तब उसमें भी 'हृदय' से बने प्रत्येक शब्द के प्रयोग को उद्धरण, अर्थ और सन्दर्भ-सहित देखा जा सकेगा। उदाहरण के लिए दोनों पक्षों से कुछ पंक्तियाँ यहाँ रखी जा रही हैं–

'छायावादी काव्य-कोश' से

- 'हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लंबी काया उन्मुक्त' – प्रसाद ग्रन्थावली – 2/84, श्रद्धा/कामायनी
- 'बही हृदय-हर प्रणय-समीरण/छोड़ छोर नभ-ओर उड़ा मन' – निराला रचनावली

– 1/197, गीत

- ‘आँख के अश्रु, हृदय के हास’ – पंत ग्रन्थावली – 1/177, पल्लव/पल्लव
- ‘चेतना से जड़ का बंधन/यही संसृति की हृत्कंपन’ – महादेवी साहित्य – 1/141, न थे जब परिवर्तन दिनरात/रश्मि

रामचंद्र शुक्ल की पंक्तियाँ

- ‘रसात्मक वाक्यों में मनुष्य के हृदय की वृत्तियाँ लीन होती हैं और इतिवृत्त से उसकी जिज्ञासा वृत्ति तुष्ट होती है।’ः 1/70 प्रबन्धकल्पना/मलिक मुहम्मद जायसी
- ‘कवि लोग अर्थ और वर्णविन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्दशोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापारशोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है।’ः 1/424 तुलसी की भावुकता/गोस्वामी तुलसीदास
- ‘मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यक्ति रागात्मिका वृत्ति और बोधवृत्ति दोनों के मेल में है। अतः इनमें किसी का निषेध उचित नहीं। कोई एक की ओर मुख्यतः प्रवृत्त रहता है, कोई दूसरे की ओर। कुछ ऐसे पूर्णप्रज्ञ भी होते हैं जिनमें हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष दोनों की पूर्णता रहती है। वल्लभाचार्यजी ऐसे ही थे।’ः 1/330 आलोचना/सूरदास
- ‘जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्दविधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।’ः 2/3 काव्य/रसमीमांसा

प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की कविताओं से केवल एक-एक उदाहरण ऊपर रखे गए हैं। इसी तरह शुक्लजी की चार पुस्तकों से केवल एक-एक उदाहरण रखे गए हैं।

कहा जा सकता है कि छायावाद के पहले की कविताओं में भी ‘हृदय’ शब्द का भरपूर प्रयोग हुआ है। तुलसी लिखते हैं, ‘हृदय-सिंधु मति सीप समाना’ और कबीर लिखते हैं, ‘जो दिल ढूँढ़ा आपना मुझ-सा बुरा न कोय’। घनानंद भी लिखते हैं, ‘हिय-पोष के तोष सु प्रान पले’। मगर छायावादी कविता ने ‘हृदय’ की जितनी छवियों को हमारे सामने रखा वह पहले की कविताओं में दुर्लभ है। ऐसा ‘हीरे-सा हृदय’ पहले के किसी भी प्रेमी का नहीं हुआ करता था जिसे ‘शिरीष-कोमल’ कुचल दे! कोई अपने ‘हृतकंपन’ में ‘अंतर्धान’ नहीं हो पाता था! ‘हृदय का राजस्व अपहृत’ करनेवाले प्रेमी-लुटेरे छायावाद में ही संभव थे! किसी की उन्मुक्त ‘लंबी काया’ को देखकर ‘हृदय की अनुकृति’ समझ लेना छायावादी कवि के लिए ही संभव था। श्रद्धा और मनु के लिए प्रसाद ‘हृदय दो’ का रूपक गढ़ते हैं। हृदय मानो मनुष्य बन गया है। छायावादी कविता हृदय के अर्थ-विस्तार से भरी पड़ी है। हृदय की जितनी छवियाँ यहाँ रची गयी हैं उतनी न तो पहले रची गयी थीं और न ही बाद में रची जा सकीं! ‘हृदय’ छायावाद का एक केन्द्रीय शब्द है। मुक्तिकामी होने के लिए जिस ऊर्जा की ज़रूरत थी उसका अजस्र

स्रोत इसी 'हृदय' में बसा था।

रामचंद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा देते हुए 'हृदय की मुक्तावस्था' को 'रसदशा' बताया। भरत के रस-सूत्र में आए हुए 'निष्पत्ति' शब्द की व्याख्या कई तरह से की गयी है। भट्ट लोलट्ट, भट्ट शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इसे क्रमशः उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति और अभिव्यक्ति कहा। एक तरह से शुक्ल जी 'निष्पत्ति' को 'हृदय की मुक्तावस्था' कह रहे हैं। उनका आशय यही है कि विभाव आदि की प्रक्रिया से गुजरने के बाद मनुष्य का हृदय 'मुक्तावस्था' को प्राप्त कर लेता है। इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए कविता की रचना की जाती है और इसी उद्देश्य से कविता पढ़ी-सुनी भी जाती है।

भामह, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ के काव्य-लक्षणों को कविता की क्रमिक परिभाषा के रूप में पढ़ने-विचारने की परंपरा रही है। इन परिभाषाओं में 'शब्दार्थ', 'वाक्य' और 'शब्द' को केन्द्रीय महत्ता मिली है। रामचंद्र शुक्ल की परिभाषा में 'हृदय' को केन्द्रीय स्थान प्राप्त हुआ है। शुक्ल जी से पहले हिन्दी और संस्कृत की आचार्य परंपराओं में शायद ही किसी ने कविता को 'हृदय' से जोड़कर परिभाषित किया है। इस तरह की परिभाषा का एक स्रोत अंग्रेजी की रोमैंटिक पोएट्री में देखा जा सकता है। विलियम वड्र्सवर्थ ने 1800 ई. में अपनी किताब 'लिरिकल बैलेड्स' में कविता की परिभाषा देते हुए इसी तरह के पक्षों पर विशेष बल दिया था,

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings: it takes its origin from emotion recollected in tranquility." (William Wordsworth, Lyrical Ballads)

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी के छायावाद और अंग्रेजी के रोमैंटिसिज्म में कुछ प्रवृत्तिगत समानताएँ थीं। सारांश यह कि रामचंद्र शुक्ल और छायावाद के बीच समानता के कुछ सूत्र 'हृदय' शब्द के माध्यम से चिह्नित किए जा सकते हैं। 'छायावादी काव्य-कोश' की सभी प्रविष्टियों और उनसे जुड़ी काव्य-पंक्तियों को ध्यान में रखें तो 'हृदय' और उससे बने शब्दों की गिनती लगभग 450 के आस-पास पहुँचती है। वहीं रामचंद्र शुक्ल की उपर्युक्त चार पुस्तकों से प्राप्त गिनती लगभग 300 के आस-पास पहुँचती है। शुक्ल जी की सभी पुस्तकों से प्रविष्टियाँ लेने पर हो सकता है कि यह गिनती 450 से काफी आगे पहुँच जाए! यहाँ याद किया जा सकता है कि रामचंद्र शुक्ल के एकमात्र काव्य-संग्रह का नाम था – 'हृदय का मधुर भार'।

प्रेमचंद का कथा साहित्य सामाजिक यथार्थ के लिए जाना जाता है। निवेदन किया जा सकता है कि प्रेमचंद के बगावती तेवर में रोमानियत की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यद्यपि वे अपने समकालीन छायावादियों के तौर-तरीकों से सहमत दिखायी नहीं पड़ते हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दी कविता के प्रति कोई विशेष आकर्षण प्रेमचंद ने अपने लेखों में प्रकट नहीं किया है। वे उर्दू या फ़ारसी की कविता को कुछ जगहों पर उद्धृत करते हैं। जैसे, वे इक़बाल की नज़्म 'लेनिन ख़ुदा के हुजूर में' को याद करते हैं। कहा जा सकता है कि कविता में प्रेमचंद की विशेष रुचि नहीं थी। वे छायावाद को पसंद नहीं करते थे तो तुलसीदास को भी पसंद नहीं करते थे। 'रामचरितमानस' के प्रति अपनी अरुचि को उन्होंने लिखित रूप से प्रकट किया था। दूसरी तरफ यह देखा जा सकता है कि प्रेमचंद सामाजिक यथार्थ से जुड़े

प्रसंगों का समाधान रोमानियत के ढंग से करते हैं। 'गोदान' (1936) में ब्राह्मण मातादीन और चमार जाति की सीलिया की शादी ऐसी ही घटना है। प्रेमचंद समस्या के स्वरूप को यथार्थवादी ढंग से पकड़ते हैं, परंतु अंतिम परिणति और सन्देश तक पहुँचते हुए वे कई बार छायावादी ढंग अपना लेते हैं। निराला की 'प्रेयसी' (1935) कविता में प्रेयसी कहती है कि मेरा प्रेमी वर्ण, जाति, रूप, धर्म के मामले में मुझसे भिन्न था –

"दोनों हम भिन्न-वर्ण,
भिन्न-जाति, भिन्न-रूप,
भिन्न धर्मभाव, पर"
उससे मेरी समानता केवल मन की थी,
"केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे"

निराला जो बात अपनी कविता में कह रहे थे और जो समाधान चाह रहे थे, लगभग वही बात प्रेमचंद मातादीन-सीलिया प्रसंग में व्यक्त कर रहे थे। प्रेमचंद के द्वारा व्यक्त किए गए प्रतिकार के इस तरह के कुछ रूप सामाजिक जीवन में दिखायी नहीं पड़ते थे। 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दारोगा', 'बड़े घर की बेटी', 'अलग्योझा', 'घासवाली' आदि अनेक कहानियों में समस्या का चित्रण यथार्थ के रास्ते हुआ है मगर परिणति में छायावादी ढंग का प्रभाव देखा जा सकता है। प्रेमचंद के इस रूप को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहा जाता रहा है। प्रेमचंद और छायावाद के रिश्ते को जोड़ते समय दोनों के बीच सबसे बड़ी बाधा बनती है उनकी भाषा-शैली। यह इतना बड़ा अंतर है कि इन दोनों के बीच की किसी समानता के बारे में सोचने का आधार मिल नहीं पाता है।

क्रांति का रोमानियत से पुराना रिश्ता है। क्रांति के लिए अपना सबकुछ न्योछावर कर देने के पीछे जो आवेग काम करता है उसकी प्रेरणा छायावादी ढंग की मनोभूमि से ही उत्पन्न होती है। भावुकता वैचारिक भी होती और यथार्थपरक भी। भावुकता में भी आलोचनात्मक प्रवृत्ति होती है। वह भी सच को जानना चाहती है। भावनात्मक भूमि के बगैर यथार्थ और विचार को साहित्य की सामग्री नहीं बनाया जा सकता है।

आग्रह के साथ कहने की आवश्यकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास को पढ़ते हुए छायावाद को केवल कविता के दायरे तक सीमित न किया जाए। उस दौर की आलोचना और कथा साहित्य को इससे जोड़कर देखे जाने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर छायावाद की वैचारिकी के व्यापक प्रभाव को समझने में मदद मिलेगी। वह कोई ऐसी वैचारिकी नहीं थी कि कविता के लिए तो उपयुक्त हो, मगर आलोचना और कथा साहित्य के लिए अनुपयुक्त हो। निराला और प्रसाद के कथा साहित्य को हम छायावादी मान लेते हैं, मगर प्रेमचंद को इससे सर्वथा अलग समझ लेते हैं। छायावादी कवियों के द्वारा लिखी गयी आलोचना को छायावाद के दायरे में मान लेते हैं, मगर उसी दौर में लिखी गयी शुक्ल जी की आलोचना को छायावाद के स्पर्श से बचा लेने की पूरी कवायद करते हैं।

छायावाद अपने दौर के हिन्दी साहित्य के प्रत्येक रूप को प्रभावित करता है।

❖

रचनाकार का आलोचक होना

निशान्त

एक किताब (भावन) पढ़ते-पढ़ते मन में प्रश्न उठा कि रचनाकार, आलोचक कब बनता है? कब उसके अंदर आलोचना का जीव द्रव्य हिलकने लगता है। वह कवि, नाटककार,गद्य लेखक से आलोचना की प्रस्तर प्रतिमा का निर्माण करने लगता है। रचना से दूर जाकर आलोचना के राहों का वह रहबर बन जाता है।

रचना और आलोचना में छत्तीस का आंकड़ा होता है? होता तो है? इसलिये कई रचनाकार आलोचना से संतुष्ट नहीं हो पाते और बार-बार आलोचकों की तरफ चातकीय निगाह से ताकते रहते हैं।

रचना और आलोचना को समझना है तो रचनाकार और आलोचक को समझना जरूरी है। एक ही व्यक्ति के भीतर यह दोनों होता है। यही तो मुकुंद लाठ जी के शब्दों में 'भावन' है। भावन की परिभाषा देखें– "भावन का कुछ ऐसा लक्षण किया जा सकता है : व्यंजित भाव का भावचित्र में रहते हुए ही विमर्श-निमज्जन-अवगाहन-आलोड़न-परीक्षण।" (भावन, पृष्ठ 141) आक्टोवियो पाज याद आते हैं– "प्रत्येक पाठक दूसरा कवि है।" अर्थात हर रचनाकार के अंदर एक आलोचक होता है क्योंकि आलोचक सहृदय रचनाकार ही होता है। वह दो स्तरों पर रचना से जुड़ता है– पहला पाठक-आलोचक तो दूसरा रचनाकार-पाठक। रचनाकार-पाठक सिर्फ अपने आनंद के लिए लिखता-पढ़ता है। इसलिए ऐसे लेखक-पाठक कहां, किस गली में छिपे होते हैं; हमें जानने में समय लगता है। पहला जो पाठक-आलोचक होता है, वह पढ़ने के बाद उसके गुणों और अवगुणों से अपने आसपास के लोगों को अवगत कराता है। कमला प्रसाद ने इसकी सुंदर व्याख्या की है, देखें– "एक ही नागरिक कवि और आलोचक दोनों का कार्य करता है। आलोचक के नाते वह रचना का विवेक अर्जित करता है तथा रचयिता होने की वजह से तात्विकता को रचकर आकृतिबद्ध करता है। रचना में तत्वों की खोज आलोचक करता है तथा आलोचना में जीवनी-शक्ति का समावेश रचना की अंतरंगता में डूबने से होता है। दोनों विधाओं का संबंध द्वंद्वात्मक होता है और इस संबंध से दोनों का भला होता है, यानी गति आती है। एक व्यक्ति यह काम करे जैसा कि निराला और मुक्तिबोध ने किया या दो व्यक्ति अलग-अलग करें जैसा कि नागार्जुन और नामवर सिंह ने किया– कोई

हर्ज नहीं। एक व्यक्ति करता है, तो खतरा है कि वह अतिशय निजी पसंद का सामान्यीकरण आलोचना में न करे जैसा कि अज्ञेय ने किया और दो अलग-अलग व्यक्ति करते हैं, तो खतरा है कि कहीं आलोचक किसी कारणवश रचना से संपर्क छोड़कर निष्कर्ष न निकाल ले, जैसा कि शास्त्रवादी आचार्यों ने किया। इस रास्ते में स्वस्थ मार्ग बहुत पेचीदा है।" (रचना और आलोचना की द्वंद्वात्मकता, कमला प्रसाद, पृष्ठ-7) इस पेचीदे मार्ग को लेकर ही मन में प्रश्न उठता है कि कब रचनाकार, आलोचक बनने का निर्णय लेता है।

रचना मन की मौज है तो आलोचना उस मौज का जस्टिफिकेशन। मौज को सही ठहराने का उत्सुकता पूर्ण तर्क।

कोई आलोचना रचनाकार को संतुष्ट कर दे, संभव होता हुआ नहीं दिखता। क्योंकि रचना और आलोचना के बीच वही सम्बन्ध है जो एक भाला और ढाल बनानेवाला अपने भाले और ढाल की बड़ाई में कह रहा था कि मेरा भाला दुनिया के किसी भी ढाल को भेद सकता है और मेरा ढाल दुनिया के किसी भी अस्त्र-शस्त्र को रोक सकता है। कुछ-कुछ आलोचना और रचना का सम्बंध इसी तरह का होता है। खैर, रचनाकार बनता ही इसलिए है कि वह अपनी रचना की आलोचना से संतुष्ट नहीं होता। यह एक सधारणीकरण या सामान्य-सा सिद्धांत है। ठीक उसी तरह कि लेखक प्रकाशक इसलिए बनता है ताकि उसकी किताबों के लिए उसे ठीक ठाक रॉयल्टी प्रकारांतर से पैसा मिल सके। पर बात इतनी सी ही है क्या?

पूर्वजों की कही हुई बात याद आती है कि हर बात का किसी दूसरी बात से सम्बन्ध होता है। लेखक-प्रकाशक या रचनाकार-आलोचक, मालिक (प्रकाशक)-कर्मचारी (लेखक भी इसमें शामिल किया हुआ मान सकते हैं।) का सम्बंध अधिकतर सांप और नेवले जैसा ही होता है! और इनका सम्बन्ध कई सम्बन्धों या कई बातों पर निर्भर करता है।

रचना और आलोचना का सबन्ध भारत-पाकिस्तान जैसा होता है। दोनों निकले एक ही जगह से होते हैं पर वैमनस्य कम नहीं होता। दूसरे शब्दों में उनमें कौरव-पांडव जैसा संबंध विकसित हो जाता है। कहीं-कहीं और कभी-कभार ही राम-भरत या कृष्ण-बलराम जैसे संबंध दिखते हैं। कभी नलिन विलोचन शर्मा ने 'मैला आंचल' के लिए और रामविलास शर्मा ने निराला के लिए यह सहृदयता दिखलाई थी। निराला ने एक ही आलोचना पुस्तक लिखी, एकमात्र रवींद्रनाथ पर वह भी पैसों के लिए। रेणु ने कभी आलोचना नहीं लिखी, लेकिन आजादी के बाद लेखकों-रचनाकारों के व्यक्तित्व में काफी बदलाव आया और उन्होंने आलोचना की तरफ भी रुख किया।

अच्छा और बुरा कह देने से बात नहीं बनती। अच्छा है तो क्यों और बुरा है तो क्या? विस्तार से, तफ्सील से सुनने के लिए रचनाकार के कान खड़े होते हैं। ऐसे भी रचनाकार के मन में बहुत सी बातें होती हैं जिनमें से वह कुछ को ही शब्द दे पाता है। इसलिए बाकी शब्दों को वह दूसरों के कंठ से सुनना/देखना चाहता है। इसीलिए उसे दूसरों की आलोचना पसंद आती है, लेकिन आलोचना के लिए पढ़ना होता है और पढ़नेवाले हमेशा से आबादी के बनिस्पत काफी कम रहे हैं। इसलिए रचनाकार को एहसास-ए-कमतरी महसूस होती है। इससे निकलने के लिए भी वो लिखता है। अपनी न सही दूसरों की रचनाओं के बहाने ही सही। वह

एहसास-ए-कमतरी से एहसास-ए-बढ़ोतरी की तरफ बढ़ता है।

वैसे भी सौ पृष्ठों या दो सौ या छह सौ पृष्ठों की रचनाओं पर दो तीन शब्द खर्च करना कहां का न्याय है? ज्यादा अच्छा लगना गूंगे के गुड़ की तरह हो सकता है। आपका मुंह गुड से बंद हो सकता है पर भाव के प्रकाश के लिए मुंह के अलावा भी बहुत सारे अंग हैं जिनसे भाव प्रकट किए जा सकते हैं। जैसे आंखें, जैसे हाथ आदि। रचनाकार वही तो देखना/सुनना चाहता है। लिखकर और कुछ मिले या न मिले, पाठकीय प्रशंसा भी मिले तो लेखक/लेखन की उम्र बढ़ती है।

लिखने को लेकर हमारे समाज में हमेशा अंदर ही अंदर एक नकारात्मक छवि काम करती हैं क्योंकि लेखन से पेट पालना, घर-संसार चलाना कठिन काम रहा है। प्रतिष्ठा भले मिल जाए, कवि-लेखक का पद भी मिल जाए पर है तो यह घर फूंक तमाशा देखना ही। इसलिए लेखक को पहली लड़ाई अपने घर में ही लड़नी पड़ती है। कई बार तो घर छोड़कर या घरवालों की अपेक्षा के बीच रहकर सृजन कर्म करना पड़ता है। पहले सृजन करके सीधे पाठकों तक पहुंचा जा सकता था। भीड़ में गाया जा सकता था, मेले ठेले में भी। नागार्जुन तक ने रेल में घूम-घूम कर अपना संग्रह बेचा था। पर जब से छापने-छपाने का रोग बढ़ा लेखक को लिखकर या लिखवाकर एक दूसरे पर क्योंकि अपने 'दही को सही' कहने से विज्ञापन या प्रचार जैसा होता है कि परिस्थितियों से गुजरना पड़ता था; इसलिए मित्र मंडली बनी। कमलेश्वर, राजेंद्र यादव और मोहन राकेश की दोस्ती काम आई। राजेश जोशी, अरुण कमल और मंगलेश डबराल की दोस्तियां भी। कोशिश तो और भी लोग, आज तक कर रहे हैं लेकिन समय इतनी तेजी से बदला कि अब दोस्तों को गोली मारो और अपना आत्म प्रचार खुद करो, पद पर हो तो नीचेवाले नीचता की हद तक करेंगे नहीं तो चाहे किताब हो या कविता या कहानी दूसरा नहीं करने वाला है। यह आत्म-प्रचार भी एक तरह का आलोचनात्मक लेखन ही है, पर एक तरह का ही है।

होता यह है कि हम दूसरे की आलोचना से संतुष्ट नहीं होते। हो ही नहीं सकते। कारण स्पष्ट है कि वह दिल भी निकाल कर दे दे तो हमें लगेगा कि कुछ छूट गया। संतुष्टि का ग्राफ थोड़ा कमजोर हुआ है, हमारे अंदर इस बदलते हुए समय में। सब कुछ को तुरंत पा लेने की बेसब्री है। सबकुछ को तुरंत पा लेना या उपभोग कर लेना जिसे आजकल उपभोक्तावादी मानस कहते हैं ने रचनाकार और आलोचक के रिश्ते को बदल दिया है।

सबको जल्दी है, इसलिए यहां आत्म विज्ञापन जलील होने जैसा अनुभव नहीं होने देता। इस पीढ़ी की आंखें ही खुली हैं विज्ञापनों के बीच। इनसे मतलब हमारी पीढ़ी से है और अब तो हमारी बाद की पीढ़ी से नैतिकता जैसे जुमलों की उम्मीद न ही रखे तो बेहतर। इस पीढ़ी में तो कुछ लोगों ने आलोचना को वरिष्ठों या असहमतों को ठिकाने लगाने के लिए अस्त्र की तरह इस्तेमाल करना शुरू कर दिया है। कारण व्यक्तिगत हो या पुरस्कारगत या साहित्यिक-सामाजिक। (वैसे यह परंपरा भी काफी पुरानी है।) ऐसे रचनाकार भी आलोचक बनते हैं जिनका काम ही शिकार पर निकलना है। फिर वे शेर ही नहीं मारते, मासूम हिरणों-मेमनों का भी शिकार शौक से करते हैं और कहते हैं – 'शौक बड़ी चीज है'। ये धन्य है, इन्हें... है।

आज रचनाकारों की फौज तैयार है और आलोचक सेनानायक की तरह हर सैनिक की तलवारबाजी, भाला फेंक या अन्य कौशल को देख नहीं पाता। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आलोचक उतना पढ़ नहीं पाता जितना लिखा जा रहा है। इसलिए भी रचनाकार को आलोचक बनना पड़ रहा है। यह एक सुखद स्थिति है। स्वागत योग्य कदम है। आज अधिकतर रचनाकार आलोचक हैं। इसमें काफी थोड़ा सा योगदान विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का भी है। बस दाल में हींग के जैसा ही।

खैर, आलोचना है तो आलोचना ही। वह वस्तुतः रचना की व्याख्या ही करती है। इसीलिए मैनेजर पांडेय जैसे आलोचकों को कहना-लिखना पड़ा कि– "मैं आलोचना को कविता और कवि से बड़ा नहीं मानता" और आजकल शंभूनाथ जैसे आलोचक कवि बन गए हैं। मैनेजर पांडे ने तो कई कवियों की कविताओं का अनुवाद किया है। मुकुंद लाठ जी ने तो 'गगनवट' जैसी पुस्तक लिखकर संस्कृत कवियों का हिंदी में 'स्वीकरण' (अनुवाद) करा दिया है। कविताएं तो लिखी ही हैं। अनुवाद करना भी एक तरह की रचना ही है। तो कहने का लब्बोलुआब यह है कि आलोचक भी रचना की तरफ प्रवृत्त होते हैं, उनके यहां कारण रचनात्मकता को पाने की प्यास ज्यादा बड़ी होती है। वे तृप्त होने की कोशिश करते हैं। यह कोशिश महत्वपूर्ण होती है। सफल होना हमेशा महत्वपूर्ण नहीं होता। यही कोशिश रचनाकार भी करता है और वह ज्यादा सफल होता है। कारण स्पष्ट है– वह भाव पक्ष को जितने अच्छे से जानता है, उतने ही अच्छे से कला पक्ष और दोनों की विशेषता को भी। इसलिए रचनाकार जब आलोचना लिखता या करता है तो वह ज्यादा सफल होता है। इतिहास तो यही कहता है।

यह मुहावरा भी बना कि असफल रचनाकार सफल आलोचक होता है। जबकि हम यह भूल जाते है कि उसके पास रचनाकर का मन होता है। वह सिर्फ आलोचक (पीएच.डी. डिग्रीधारी) होकर, रचना का मर्म जान ही नहीं सकता। उसके लिए रचनाकार का मन होना जरूरी है, भले ही थोड़ा (असफल) हो।

वास्तव में आवश्यकता आविष्कार की जननी ही नहीं होती। आवश्यकता संसार का सबसे बड़ा शिक्षक भी है और हिंदी में शिक्षक समुदाय सब कुछ कर सकता है। आलोचना भी लिख सकता है लेकिन मुद्दा यह नहीं है। मुद्दा है कि रचनाकार कब आलोचक बनता है? रचनाकार को एक समय यह आवश्यक लगने लगता है कि उसकी रचना ही नहीं उसके और भी प्रिय रचनाओं पर आलोचक बात नहीं कर पा रहे हैं या ठीक से व्याख्या नहीं कर पा रहे हैं। कारण चाहे जो भी हो, तब वह खुद आलोचना के रिंग में दस्ताने पहनकर उतरता है और अपने ताबड़तोड़ मुक्कों से एक नया इतिहास लिखता है। वास्तव में उसके पास एक रचनाकार का हृदय होता है इसलिए उसकी भाषा में एक नई चमक और लोच होती है। फिर धीरे-धीरे उसे इस भाषा की चमक और लोच अपने आगोश में लेने लगती है। उसका नशा धीरे-धीरे उसे होने लगता है और नशा जब सर चढ़कर बोलने लगता है तो आवश्यकता से ज्यादा वह जरूरत में तब्दील होने लगती है। यह जरूरत अपने समय समाज के जाले को साफ करने में ज्यादा सहायक होती है। उपयोगी भी। आवश्यक भी।

एक कवि या रचनाकार जब कवि या रचनाकार बनता है तो उसकी स्थिति में गुणात्मक

अंतर आता है। चाहे वह अंतर समाजिक हो, भौतिक हो, अध्यात्मिक हो या मानसिक ही क्यों न हो? ऐसी स्थिति में वह चाहता है कि वह सिर्फ रचनाकार ही न रहे। वह उन रचनाओं पर बात भी करे। बोले और लिखे भी। उनकी सुंदरता और कलात्मकता को लोगों तक पहुंचाएं। यही तो आलोचक करता है। यही तो आलोचना है। कुछ समय के बाद कुछ लोग रुक जाते हैं। ठहर जाते हैं। कुछ उस रास्ते पर चलते चले जाते हैं, जो चलते चले जाते हैं वही तो 'राहों के अन्वेषी' होते हैं। वे एक नया रास्ता बनाते हैं। वे रुकते नहीं, रास्ते का संधान करते हैं। आलोचना नए रास्ते का संधान ही तो है और आलोचक संधानकर्ता।

कभी इलियट ने कहा था कि "युगों बाद किसी साहित्य में एक बड़ा आलोचक आता है।" तो क्या आज के रचनाकार 'संभवामि युगे युगे' की तरह प्रतीक्षा करें। नहीं कर सकते, क्योंकि 'यह मुक्तिबोध का समय नहीं है'। न निराला का कि लेखक इतना लंबा धीरज धारण करें। यह तुरंता समय है। जल्दी-जल्दी सब कुछ पा लेने का। इसलिए 'दोस्त आलोचना' का यह दौर है। दोस्त की किताब है तो– 'क्या लिखा है?' दुश्मन की किताब है तो– 'कूड़ा लिखा है।' अनजान लेखक की किताब हो तो- 'सामान्य लिखा है।' वास्तव में आलोचना लेखन में यह क्रांति आपसी या दोस्ती और समझदारी का मामला ज्यादा है। यह बात पाठक भी अब समझने लगे हैं। अब तो पाठक यह भी समझने लगा है कि जो दोस्त,अपने दोस्त की किताब को एक समय अच्छा कह रहा था, उसकी तारीफ के कसीदे काढ़ रहा था उसके सामने। उस कवि या लेखक को आज उस से बड़ा कवि या लेखक कह दे तो वह आपसे बातचीत बंद कर सकता है। आप को 'शिक्षित पाठक' से 'बाजारु पाठक' कहने लगेगा। आपकी 'रूचि बोध' को 'कुत्सित बोध' कहने लगेगा। खैर...फिर से इलियट की बात पर आएं तो लगेगा कि इलियट की बात 'अनुभव की कोख' से निकली थी। आखिर इलियट भी तो कवि- आलोचक था। पहले कवि थे, बाद में आलोचक। इलियट के पास अनुभव के साथ 'सृजनात्मकता की कोख' भी थी। बिना सृजनात्मक हुए आलोचक बना ही नहीं जा सकता। आलोचक होने की पहली शर्त है 'सृजनात्मक कोख' लिए हुए विश्लेषणात्मक या व्याख्यात्मक व्यावहारिक बुद्धि से लैस होना। ऐसी आलोचना के लिए ही कहा जाता है कि 'आलोचना भी रचना है।'

वास्तव में आलोचक या आलोचना का काम क्या होता है? "आलोचना रचना और पाठक के बीच मध्यस्थता करती है और रचना के यथार्थ तथा सामाजिक जीवन के यथार्थ के संबंध की व्याख्या भी करती है। आलोचना का सौंदर्य अगर उसकी साहित्यिकता पर निर्भर है तो उसकी सार्थकता उसकी सामाजिकता पर। आलोचक को साहित्य की दुनिया से बाहर जाकर रचना को समाज से जोड़कर देखना- परखना होता है जिससे साहित्य पैदा होता है।" (आलोचना के सौ बरस, संपादक : अरविंद त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या-71) और यह काम कम कठिन नहीं है। इसमें 'रचना या साहित्य का यथार्थ' और 'सामाजिक जीवन या सौंदर्य का यथार्थ', यह दो तरह के अर्थात को पकड़ना पानी में बंसी डालकर या जाल फेंक कर पकड़ना नहीं है। यहां हाथ में रचना लेकर समुंद्र में उतरना है जहां से पीने लायक पानी लेकर आना है। तब 'आलोचना रचना होगी'। इसके लिए आलोचक को साहित्य से बाहर निकलना पड़ता है। मुक्तिबोध याद आते हैं जो कहते थे– साहित्य रचने के लिए साहित्य से दूर जाना होगा।

आलोचक का काम और जटिल एवं कठिन हो जाता है। उसे आपाद-मस्तक साहित्य में डूबे भी रहना पड़ता है और उस से दोहरी दूरी पर जाकर उसे एक आलोचक प्रकारान्तर से पाठक की नजर से देखते-विचारते हुए लिखना-बताना भी पड़ता है।

आज के किसी बेहतरीन कवि की कोई काव्य पंक्ति याद नहीं आ रही है, इस प्रकरण पर। इसलिए लिख रहा हूं कि हिंदी का काम बिना मुक्तिबोध के चल नहीं सकता। 'ब्रह्मराक्षस' से यह अंतिम पैराग्राफ देखें–

"पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच,
ऐसी ट्रेजिडी है नीच!!

बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' मर गया...
वह सघन झाड़ी के कँटीले
तम-विवर में
मरे पक्षी-सा
विदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ!
क्यों यह हुआ!!
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।"

अर्थात् आलोचना करना कम कठिन कार्य नहीं है। इसके लिए मरना तक पड़ता है और जरूरत महसूस हुई तो अपने ही रचनाकार की हत्या करनी पड़ती है। खून करना पड़ता है। यह 'खाला का घर' नहीं है। मुक्तिबोध भी रचनाकार-आलोचक थे और 'ब्रह्मराक्षस' के शिष्य भी। उनकी भी रचना को जीते जी आलोचक समझ नहीं पाए। आज भी कुछ आलोचक नहीं समझ पाते हैं। वास्तव में अपने आपको दो पाटों के बीच पिसवाना कौन चाहेगा जो पिसवाएगा वह ब्रह्मराक्षस की तरह मारा जाएगा और मित्रों ऊपर ही मैंने कह दिया है कि 'यहा समय मुक्तिबोधों का नहीं' है और मरना कोई नहीं चाहता। यह जानते हुए कि 'मौत

का एक दिन मुअय्यन है।'

तो आलोचना कुल मिलाकर काफी मेहनत का काम है। मेहनत से दो ही लोग नहीं डरते- एक किसान और दूसरी स्त्री और दोनों के पास 'सृजन की कोख' होती है। स्त्री चाहे निःसंतान ही क्यों ना हो, बच्ची या बूढ़ी ही क्यों ना हो, विधवा या सधवा ही क्यों न हो? सृजन के महत्व को उससे बेहतर दुनिया में कोई नहीं जानता और मेहनत के महत्व को किसान से ज्यादा कोई अम्बानी-अडानी नहीं जानते। इसलिए एक अच्छे आलोचक या आलोचना के पास किसान का हृदय और स्त्री का शरीर होता है। इसे ही शास्त्रों में शायद 'मणिकांचन संयोग कहते हैं।

खैर, रचनाकार क्या चाहता है या उसे चाहिए क्या होता है? अपनी रचना की प्रतिध्वनि। रचना की प्रतिध्वनि में रचनाकार आलोचक हो जाने को अभिशप्त होता है। शायद यही उसकी नियति होती है। शायद यही उसकी उपलब्धि भी।

❖

प्रकाश चन्द्रायन

प्रकाश जी की कविताओं में जीवन के विविध रंग आधुनिक अर्थछवियों के साथ अभिव्यक्त होते हैं। जन को घेर रहे तंत्र की विरूपताओं पर कवि की निगाह है।

सुरक्षा

तुम मुझे सारी सत्ताएँ दो,
मैं तुम्हें सारा जनतंत्र दूँगा।

इतना कि तुम ले नहीं सकोगे,
लेकर भी क्या करोगे?

कहाँ रखोगे, कैसे बचाओगे,
हमेशा लुट जाने से डरे रहोगे।

अंततः जमा करने आओगे,
अभी रखो बाद में कभी ले लेंगे।

मैं पूरा जनतंत्र सुरक्षित रखूँगा,
सत्ताओं के घेरे में महफूज।

धन्यवाद! तुमने जनतंत्र महासत्ता को सौंपा,
अब उसे कहीं कोई खतरा कहाँ है?

कह गए कवि रघुवीर सहाय
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है,
कहकर आप हँसे...हा...हा...हा!

मकबूल

एक कलाकार अपनी कला में मकबूल,
हर कलाप्रेमी उस पर बेइंतहा फिदा।

कैसे होगा वह संवेदना से जुदा।
वह रहेगा दिल-दिमाग पर खुदा।

जैसे शैलाश्रयों में पुरखों के शैलचित्र,
और शैलचित्रों में साँसों की उष्मा।

जहाँ कहीं ली उसने अंतिम साँस,
वहीं उसके ललाट पर मिट्टी का नम हाथ।

मिट्टी का सिर्फ रचाव से जैविक अपनापा,
रचाव के विनाश पर रचना का सियापा।

कोई नफ़रत कहां छू सकेगी मकबूलियत,
हर सर्वश्रेष्ठ कला है सिर्फ इन्सानियत।

हैरत है उस तमाशाई कला-समय पर,
खूनी खेला उभरा राष्ट्रीय केनवास पर।

कार्बन डेटिंग से भी नहीं मिलेगा सही हिसाब,
कहीं नहीं है कहीं नहीं है खून का सुराग

रोटी हुई साकार

जब कभी किन्ही हाथों ने रोटी बेली पहली बार,
तब वह नहीं बनी गोलाकार-
गोल होने से कर दिया इनकार।

वैसे तो उन्हीं हाथों ने जब लोई बनाई,
तब उसमें थी पूर्ण गोलाई।
चपटे चकले पर भी वह गोलमटोल ही थी-
बावजूद बेलन के दबाव के कई बार,
उसने गोल होने से किया इनकार।

कभी वह अफ्रीका के नक्शे जैसी बनी,
कभी यूरोप कभी अमेरिका के मैप की तरह।
कभी एशिया कभी लातिन अमेरिका के मानचित्र की माफिक,
कई बार महासागर से घिरे आस्ट्रेलिया की भाँति।

अनेक बार तिकोनी-चौकोनी आड़ी-तिरछी टेढ़ी-मेढ़ी,
जैसे महादेशों की देहों में देशों के आकार-प्रकार।

गजब जिद कि गोलमोल होना ही नहीं,
पूरा नहीं तो लगभग गोल ही सही।
पृथ्वी भी तो है दोनों ध्रुवों पर थोड़ी चपटी,
फिर धरती जैसी होने में क्या दिक्कत?
काम तो दोनों का एक समान,
जिन्दगी में डालते रहें जान।

पूरमपूर गोल तो सूरज है,
उसकी महामाया-महाकाया का कहना ही क्या!
उसकी विराट सतह पर रह सकती हैं एक सौ पृथ्वियाँ,
गर्भ में समा सकती हैं दस लाख।
ठूँसठांस कर तो अग्निपिंड के पेटे में अँट सकती हैं-
तेरह लाख धरतियाँ।
ऐसा अंटान हो जाए तो खाक हो जाएंगी धरतियाँ,
कौन चाहेगा महाविनाश बचा रहे महाजीवन।
सूर्य रहे धरती रहे थोड़ा कम गोल बनकर भी रोटियाँ रहें
रोटियाँ बनानेवाले हाथों में भी रहें जी-जान-कमान।
जानदार हाथ ही तो कोशिश करेंगे,
जिन्दा कोशिशों से क्या नहीं हो सकता।
लगातार कोशिशों से बेली गईं वैसी ही रोटियाँ,
जैसी खगोलवेत्ताओं ने उजागर किया धरती का आकार।
धर्मधुरंधर झूठे निकले खगोलवेत्ता सही,
पृथ्वी से मिलीजुली रोटियाँ बनीं।
मिठास लिये,
ननछौंहापन भी।

आखिर हाथों की कोशिशों से रोटी हुई साकार,
जैसे खगोलविदों ने पाखंड को किया धिक्कार।

अलग रास्ता

राजधानी एक्सप्रेस दौड़ती जा रही है पश्चिम,
पश्चिम में ही राजधानी है

और बीटिंग रिट्रीट की फ़ौजी धुनों के साये में सूर्यास्त भी।

डिब्बों की खिड़कियों के बाहर-
विराट दृश्यावली भाग रही है,
विपरीत दिशा की ओर।

पूरब मुंह दौड़ रहे हैं दूर-दूर तक खेत।
गाड़ी की उलटी गति में फलांग रही हैं पहाड़ियां।
इंजन से विमुख छलांग लगा रहे हैं जंगल।

आखिर इतनी बेरुखी क्यों?
राजधानी पश्चिम में रहे तो रहे,
इन्हें पूर्व का ही रुख़ करना है।

चलन तो है राजधानी की ओर मुंह उठाने का,
राजधानियों का अंतःपुर में समाने का।
इन्हें तो हौसला है धारा के विरुद्ध जाने का।

खेतों, पहाड़ियों, जंगलों, नदियों को है ख़बर,
राजधानी बन गई है नीलामघर।
इधर सौदागर उधर सौदागर,
माटी-पानी-हवा पर बाजारू नज़र।

नहीं,भाग नहीं रहे हैं,
अनंत यात्रा के ये सहचर।
यह संकेत है,
दूसरे रास्ते की कौंध है।
राजधानी की दिशा झूठी हो-
तो सच का अलग रास्ता भी है।

दिलदारनगर से दिल्ली

जनवरी के कुहासे में तारे कंपकपा रहे थे,
चांद लिहाफ में जा रहा था।
सूरज को रजाई छोड़नी थी,
दिन धीरे-धीरे तैयार हो रहा था।

अलसाई-अघाई दिल्ली अभी कसमसा रही थी,
कुहरे में सिर्फ फुटपाथ डटा था।
परसों उजड़ी कल बसी एक झुग्गी जग गई थी,
दो जन उठ गए थे।
श्रम शिविर में दोनों को उठ कर चलना ही था,
चलना ही जीवन है ठहरना धीमी-धीमी मौत।

इक्का-दुक्का कौओं ने देख लिया-
दोनों का दिनारंभ
और कांव-कांव से स्वागत किया
उठी जोड़ी ने भी उन्हें रोटी का टुकड़ा पेश किया।
मुबारक हो यह रोजाना दावतनामा!

झुग्गी के पहलू में छिपे,
कुत्ते ने की कूं-कूं।
सुटकी बिल्ली ने मूं-मूं,
कबूतरों ने गुटर-गूं-गूटर-गूं।
गिलहरी ने चटर चूं-चटर चूं,
सबने की हां हां-हूं हूं।
धुंध को भेद रही है,
ध्वनियों की प्रभाती।

***

थोड़े-मोड़े गर्म कपड़ों में थोड़ा सिमटे थोड़ा सिकुड़े,
कुहरा छंटे न छंटे कठजिंदगी कहां रुके-झुके।

आकाश में लाली छाने पर संशय था,
झुग्गी में लाल चाय छन गई थी।
बोर-बोर कर चबाई गई रोटी
पेट में उतर गई थी।
थोड़ी सी गर्माहट के साथ कदम सध रहे थे,
हाथों ने टिफिन थाम लिया था।
फूलछाप साड़ी पर पुराना कत्थई स्वेटर
और धारीदार कमीज पर घिसी भूरी जैकेट पहन-
एक-दूसरे को मुसकी फेंक कर-
दोनों चले दिल्ली में दुनिया नापने,

जिन्दगी खपाने जिन्दगी बढ़ाने

श्रम को ईसर जानि कै दोनों ने लिया कदम उठाय,
रैदास श्रम करि खाइए जौ लौं पार बसाय।

संगतिया सूरज को भी देर-सबेर सामने आना ही है,
कुहासे को जाना ही है।
रगों में गर्मी दौड़ ही जाएगी,
जिन्दगी का बोझ सध ही जाएगा।

कुहासे में धुंधली आकृति भर नहीं है जिंदगी,
वही बोलती है कुहासे को कुहासा।
दहकते गोले को सूरज,
अव्यक्त सम को प्रेम।

***

यह भी तो ठेठ प्रेम है,
नवरीति काल से बाहर।
तमाम एकाधिकारों के बीच,
रास्ता खोजती असाधारण जिजीविषा।

पता नहीं, प्रेम कविताओं में यह ठेठ प्रेम सजेगा कि नहीं!
सजे न सजे-
यही प्रेम रचता है करोड़ों साधारण जीवन,
इसी जीवट से जिंदगियां नापतीं हैं बड़ी दुनिया।

निहारता है कुहरीला आकाश,
ताकती है नम पृथ्वी।
भागमभाग में कोई कनखी से भी नहीं देखता,
सीमांत का अनबिका प्रेम।
देखे न देखे,
इस प्रेम को बुरी नजर न लगे।
वह चले चलता रहे,
जैसे चलती है कठजिंदगी।

इस प्रेम को पता है-
सारे रुमानी प्रेम ले गए फिल्मवाले,

और रुहानी प्रेम गा रहे सूफ़ी मौशिकीवाले।
रास-रस-रहस्य पढ़ा रहे शास्त्रीय कलावाले,
सिर्फ जिंदगी का प्रेम जी रहे फुटपाथवाले।
तो क्या ग़लत-
फुटपाथ कोई अपराध नहीं,
फुटपाथी प्रेम कतई अश्लील नहीं।
इस लुकछिप प्रेम पर कोई गीत तो रचे-
खुल्ली धरती खुल्ले आकाश के तले,
फुटपाथी प्यार पले।

***

पता है आपको!
जिस रात वे अपनी पुरानी बसाहट से
फुटपाथी सभ्यता में धकियाए गए,
तब उदास पूरनमासी में अमावस का वास था।
पुरवा में पछुआ का भी आभास था।
दोनों ने मड़ैया निहारी खेत छुआ पोखर निरखा,
और दिशाओं को सुमिरन कर बहिराए।
दिशाओं को पता है,
वे कब नहीं बहियाए गए-
देवभाषा में यत्र-तत्र-सर्वत्र।

जब दोनों दिलदारनगर से दिल्ली आए,
एक गठरी चार हाथ-पांव दो दिल-दिमाग लाए।
इसी के साथ कठजिंदगी ने कदम बढ़ाए,
ज़र्रे-जर्रे में निपुण हाथों ने छाप लगाए।
दिल्ली ने बार-बार उजाड़े,
उन्होंने ही हर बार दिल्ली संवारे।
बसाया शाहजहांबाद बनाया लुटियंस जोन,
सजाया चांदनी चौक संवारा कनाट प्लेस।
दिल्ली के पिछवाड़े में धंसकर,
अगवाड़े में बना रहे सेंट्रल विस्टा रच-रच कर।

कहां देखा उन्होंने वह शहर और सपना,
उन पर ही ख्वाजा अहमद अब्बास ने रचा फिल्म अपना।
गुलाबी युग की पंखुड़ियों का छितरना-बिखरना।

सलमा-सलीम की शाम

फरवरी और वसंत संग-संग थे,
साथ-साथ शनिवार की शाम घूमने निकले
सलीम और सलमा।
मन में छा रही थी,
पांवों के नीचे हरी घास।
सिर के ऊपर नीली हवा,
और दाएं बाएं सतरंगे पंखों वाली तितलियां।

सोचा कुछ देर बाग में बाग-बाग होंगे,
बैठेंगे-बोलेंगे-बतियाएंगे।
मन खोलेंगे रस घोलेंगे,
बचे-खुचे जीवन-रस के साथ।

बुनता चलता है खरा जीवन,
प्रेम के ताने-बाने।
कहिन हैं रैदास संत,
हम जान्यो प्रेम, प्रेम रस जाने।

रस के रास्ते में टूट गई,
सलमा की पुरानी चप्पल।
मुआ! इसे भी अभी ही टूटना था,
रसभंग क्यों होना था?

पंक्चरसाजी से जीते,
सलीम के खीसे में थे बीस रुपए।
दो रुपए गए,
सलमा की चप्पल ठीक कराने में।
आठ रुपए की मूंगफली
और पांच-पांच रुपए की चाय।

इस बजट में मनाई,
दोनों ने सुहानी शाम।
खूब गपियाए, मुस्काए और लौट गए
एक-दूसरे का दिल थाम।

वापसी में किया वादा,
फिर मिलेंगे पंद्रहवीं शाम।
जब अमावस की कलायात्रा के बाद-
खिलेगा पूरा चांद।
आलूबोंडा खाएंगे,
गुलाबी गाने गायेंगे।
ऐसी हर शाम को सलाम।

यही होते रहे गुलाबी दृश्यों के अगुआ दर्शक,
यही होते रहे गुलाबी गानों के पहले श्रोता-
अंधेरे-उजाले श्वेत-श्याम के प्रथम नागरिक।
इनकी सीटियों की गूंज असली दाद रहीं,
जिन पर टिकी रहीं रुपहले पर्दे की जान।
कवि शैलेन्द्र ने रखा इनका मान-
दिल का हाल सुने दिलवाला,
सीधी सी बात न मिर्च-मसाला।
गूंजता है यही एक गान,
बाकी तो इनके हिस्से मतदान और अपमान।

देश के वित्तमंत्री से मिले उसी शाम,
अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के आलाकमान।
दोनों ने हंसकर दिया साझा बयान,
अग्रसर है ग्लोबल इंडिया-
मिलजुल कर लाएंगे उफान।

इसी ग्लोबल शाम में
परवान चढ़ रही है,
सलीम और सलमा की
लवरेज फुटकर शाम।
एंटी लव स्क्वाड की लंपट पकड़ से दूर,
लव बर्ड को मिले मनमाफिक मुकाम।
कुछ-कुछ होने की खांटी कस्बाई सांझ।
संगीगंज में फरवरी और वसंत के नाम।

❖

अविनाश मिश्र

अविनाश मिश्र की कविताओं में ज्ञान और भाव का ऐसा संतुलन दिखता है जो उनकी प्रयोगशीलता को धार देता है।

होना

आस्तिक होना अब बहुत सस्ता है
अनास्था में होना बहुत बग़ावती

सब तरफ़ होने के कर्मकांड हैं
सब तरफ़ होने से घायल है विवेक

त्रासदी पर हँस रहा है होना
होना ख़ुद त्रासदी है

एक युग

एक युग बीत गया
सुंदर वाक्य पढ़ते-पढ़ते
आह्लाद मुझे ले डूबा
अपने कमरे में
ठंडे बिस्तर पर लेटकर
फ़ोन-स्क्रीन पर अँगूठा ऊपर-नीचे करते हुए
मैं क्रांति में झुलस गया

उन सबका पतन हुआ
जिनके पास दृष्टिकोण था

आत्मा पर निगरानी न रही
पहले जैसी

सब कुछ बिकने लगा

बढ़ती उम्र के ये सिलसिले रहे
दोस्त एक-एक कर कम हुए
मृत्यु ने नहीं ज़िंदगी ने छीना उन्हें
हस्तलिपि पिता की हस्तलिपि से मिलने लगी
और असफलता भी
भाषा में पूर्वजों के दुःख चले आए
और आँखों में माँ के आँसू!

सम्बन्धमूलक

मुझसे पुरानी है मेरी जाति
जैसे बाँध से पुरानी है नदी
चुनावों से पुरानी है राजनीति
पुजारियों से पुराना है धर्म
तानाशाहों से पुराना है युद्ध
पात्रों से पुराना है पानी
दार्शनिकों से पुराना है दर्शन
और कवियों से पुरानी है कविता
यह बताती हुई कि
जब तुम कोई स्वप्न देखते हो
वह तुमसे पहले
उसे देख चुकी होती है।

कथाएँ

वे डूब चुकी हैं
इस भाषा में

एक लाख प्रतियाँ बिकी उनकी
पर पढ़ा किसी ने नहीं

उनकी सफलता का यही राज़ है

उनके ही पात्र
उन्हें ले डूबे
उनके ही पात्र में

शब्द-वस्त्र में
सिकुड़ा नज़र आया
उनका रूप

मृतकों पर दाग़ लगाती हुईं
जीवितों के नीचे बिछी रहीं

उनकी बकवास से जानी गई
उनकी भूमि
जबकि भूमिहीन थीं वे।

सतह के संस्तर

बेबुनियाद बातों से भरा
जीवन जीने में,
कितना तो सुख है।

कितना तो सुख है,
मूर्खताओं के
पीछे चलने में।

सुख ही सुख है,
सुरक्षा का दामन
न छोड़ने में।

कितना तो सुख है,
सुन लेने में
और न कहने में।

आज नहीं

आज नहीं,
बहुत पहले कहा था
एक महात्मा ने नहीं
एक मनुष्य ने
कि नींद की अवधि कम होनी चाहिए।

बहुत पहले बताया था
एक डॉक्टर ने नहीं
एक पीड़ित ने
कि अत्याचारियों को
एक दिन में इक्कीस घंटे सोना चाहिए।

आज नहीं,
बहुत पहले लिखी थीं
महर्षियों ने नहीं
कवियों ने वे कविताएँ
जो आज काम आती हैं।

कविताएँ

इतनी कविताएँ हैं
मनुष्य से मनुष्य के प्रेम की
मेरी एक भी कविता नहीं

बेशुमार कविताएँ हैं
पशुओं पक्षियों पत्थरों
प्रकृति के प्रति प्रेम की

भाषा दर्शन अध्यात्म मनोविज्ञान
इतिहास समाजशास्त्र राजनीति...
मेरी एक भी कविता नहीं

कविताएँ मेरी होनी थीं

पर तुम्हारे पास जगह घेर रहीं
इसलिए मेरी नहीं रहीं।

सरस्वती

कंठ रुँध गया
आँखें भर आईं
रुधिरमयी
हो गईं
उँगलियाँ तुम्हारी
टूट गए
वीणा के तार
किसी ने कुछ सुना भी?
माँ!

❖

देवेंद्र चौबे

देवेंद्र चौबे की यह कविता प्रकृति और जीव के अंतरसंबंधों की पड़ताल करती है और पाती है कि दोनों अभिन्न हैं।

किसान बनती चिड़िया

(1)
अरावली की पहाड़ियों पर
अचानक उग आया था
एक बीज
चकित था माली, हैरान थे रखवाले
टेरेस गार्डन के सफेद गमले में
कहां से आया होगा इस नन्हें पौधे का बीज

माली से पूछा गया, कूड़ेवाले की हुई थी बुलाहट
पहरेदार ने भी कर दिया था मना

हैरान, परेशान था बगीचे का मालिक
पूछता रहा दिन भर, कोई तो बताएं
कोई भूत या जिन्न तो नहीं था जो उगा गया यह बीज

देवता और असुर भी तो नहीं आए थे उस दिन धरती पर
हैरान परेशान मालिक ने पिटवा दी मुनादी पूरे महानगर में
रखवाए बड़े-बड़े इनाम, मंत्री संतरी सभी आए
पर मुकर गए भूत, वेताल, जिन्न भी
नहीं मिला कोई जवाब

नहीं, साहब! मैंने तो नहीं लगाया कोई बीज
उस दिन नकार गया था लिफ्टमैन भी

यहां तक कि नीचे सफाई करनेवाला
रामदीन ने भी खड़े कर दिए थे हाथ

जिसने लगाये थे सैंकड़ों पौधे
अरावली की पथरीली जमीन पर

(2)
कुछ दिनों बाद अंकुरित हुआ बीज
धीरे धीरे बढ़ने लगी उसकी डालियां
कटकटाए पत्तियों ने दी सुरक्षा
लहलहाती लत्तरों पर
पीले-पीले फूल आये
बीच में कुछ चटख हल्दियाये
पंखुड़ियों ने
स्वागत किया सूरज का
सूरज मुस्कुराया

क्या ये बीज तुम्हारे थे?
सूरज हंसा और चला गया पश्चिम की ओर

रात हुई
पूर्णमासी के चांद ने फूलों पर रोशनी फेंकी
क्या ये तुम्हारे हैं?
हैरान परेशान मालिक ने पूछा–
चांद मुस्कुराया

क्या ये बीज तुम्हारे हैं?
तारों ने कहा–
नहीं, नहीं! ये हमारे नहीं

तो क्या सप्तऋषियों ने लगाए हैं ये बीज ?

नहीं-नहीं!
परेशान तारों ने कहा
और भागने लगे बादलों के साथ

हैरान था मैं, परेशान था माली
कहां ढूंढे उस प्रकृति पुत्र को
जिसने टेरेस गार्डन के इस छोटे से गमले में
रोपा था दुनिया का सबसे सुंदर फूल

फूल, करेला का फूल!
पीला, अधखिला पीला!!

(3)
तारे चुप थे, चांद के चेहरे पर लालिमा थी

तभी धीरे से एक आवाज आई
दूर से...जैसे तारामंडल की प्रतिध्वनियां हो

हां, सुनो तो सही–
एक सुबह आई थी चिड़िया
भरी चोंच लिए

चांद भी चला गया था बादलों के पीछे,
तबतक सूरज भी नहीं पहुंचा था आकाश में
माली अभी रास्ते में था और मानव भी सोया था
गहरी नींद में
गांवों में नदी को स्नान करने जाती स्त्रियां भी
लौट आई चबूतरे पर
हलवाहे भी निकल पड़े थे खेतों की ओर

(4)
कहते तभी कहीं पूरब दिशा से
आई उन चिड़ियों ने
महानगर की अट्टालिकाओं पर रखा था कदम
देखा था इधर-उधर, फिर उतर गई थीं छतों पर

चार ने की थी पहरेदारी
पांचवी ने पंखों को लहराया था धीरे से
और बैठ गई थी गमले की मुंडेर पर
तभी दूसरी चिड़िया ने भी लहराए थे अपने पंख
पहली नीचे उतरी थी गमले में
दूसरी ने अपनी नन्ही चोंच से
हटाया था नर्म मिट्टी के पहाड़ को
देखा था इधर-उधर
और फिर धीरे से छिपा दिया था नर्म मिट्टी में
चोंच में भरे दाने

तभी तीनों ने भी फड़फड़ाए थे पंख
उतर आया था गमले में
पांच चिड़ियों का
समूह

उस दिन मिट्टी ने पाया था मातृत्व,
हवा ने नमी और आग ने थोड़ी-सी ऊष्मा

सूरज मुस्कुराया था और लगाई थी बादलों ने
लंबी दौड़
हिमालय से रत्नगिरि की पहाड़ियों पर

(5)
मित्रो,
यह प्रकृति की एक क्रिया थी कि
चिड़ियों ने रोपे थे मिट्टी में बीज
जिसे देखा था सरहदों पर महीनों से बैठे
अपने-अपने देशों से आए
धरती पुत्रों ने
गांवों की ओर लौटते प्रवासियों ने

आसमान में जाते हुए सप्तर्षि भी गवाह थे कि
धरती में अंकुरित यह बीज
अन्न के दाने
सुबह की धूप
शाम की गोधूली वेला
धरती का जल
आग की दहक और मिट्टी का मातृत्व

सब एक क्रिया है
इनका होना इस धरती का होना है

चिड़िया का इस धरती पर होना
सृष्टि की सबसे बड़ी प्रक्रिया है

❖

मृत्युंजय प्रभाकर

मृत्युंजय प्रभाकर के यहां निहारना एक गहरे अर्थों वाला देखना है जो हमें आश्वस्त करता है।

कोरोना काल

(1)
एक ही शहर
महाकवि दो
बीच से गुजरा
कोरोना काल
जैसे गुजरती है
विषुवत रेखा
करती दोफाड़
धरती को
नहीं लिया हाल
एक-दूसरे का
संवेदनाओं से
लबरेज कविताएं
करते रहे
दोनों महान
विभूतियां।

(2)
एक वक्त आया
जब बाप ने बेटे को
बेटे ने बाप को न पहचाना
नहीं पहचाना पति ने पत्नी को
पत्नी ने पति को
भाई विलग रहे बहनों से
बहनें दूर रहीं भाइयों से

इस कोरोना काल में
परिवार के महात्म्य का
ढंका आवरण खुल गया।

(3)
बच्चे के लिए उन्मादित सीना
पत्नी के लिए व्यथित हृदय पर
भारी पड़ी व्यावहारिक सलाह
हफ्तों तक दूर रहा पिता
अपनी नज़रबंद बेटी से
हफ्तों तक दूर रहा पति
अपनी नज़रबंद पत्नी से।

(4)
नरों के बीच उग आए नरपिशाच
उन्होंने ज़रा भी देर न की
अपने ढंके-छुपे सिंग निकालने में
निकल आए होठों को चीरते
उनके लंबे-नुकीले भालेदार दांत
उन्होंने जब सुनी जरूरतमंदों की चित्कार
बदल गए यकायक मानव से दानव में।

(5)
पांच रुपए का सामान
जो हर नुक्कड़ पर उपलब्ध था
रातो-रात पूरे देश से लापता हो गया
किसी को होश नहीं आया
एक सभ्य देश में इसके खिलाफ
दर्ज करने का एफआईआर
अब चूंकि दर्ज नहीं हुई एफआईआर
पुलिस बनी रही निष्क्रिय
सरकारों ने भी फिर उनकी
सुध लेना जरूरी नहीं समझा
कुछ सुओ मोटो जैसा कर्मकांड
न्यायालयों में होम हुआ।

(6)
'जो मरे वो मुक्त हो गए'
एक सदाबहार बयान दर्ज किया गया
एक महामानव के द्वारा जो उस धारा के
आधुनिक तारणहार हैं जो हज़ारों सालों से
इसका उद्घोष करती रही कि
'जो मरे वो मुक्त हो गए'
इससे अधिक महान काम
और क्या हो सकता था उस धरती पर
जहाँ मनुष्य के रूप में जन्म लेने की
सबसे बड़ी उपलब्धि है 'मुक्ति' पा लेना।

(7)
लाखों प्राणी इसलिए मुक्त हो गए
क्योंकि काल ने उनके सामने से हटा लिए
ऑक्सीजन के मास्क, पाइप या सिलेंडर
वह इस दुनिया से विदा हो गए
क्योंकि उनकी सांसें उन पर भारी पड़ गईं
जबकि छटपटाते रहे मृतक
घिघियाते रहे परिजन
दौड़ते-भागते रहे परिचित
ऑक्सीजन की तलाश में
हलकान रहे अपरिचित
इस बीच सिस्टम रहा अनुपस्थित
सरकार ने कोर्ट में दिया बयान
उसने बेहतर से बेहतरीन उपाय किए।

(8)
रेल मंत्री ने कर दिया ट्वीट
रेलवे ढोएगी ऑक्सिजन सीलेंडर
टीवी पर तत्काल चलने लगे विजुअल
रेलें दौड़ती रहीं पटरियों पर
फिर वो पटरियां छोड़
उम्मीद से टकटकी लगाए
मरीजों की नज़रों से उतर
उनकी छातियों पर दौड़ गईं।

(9)
सारे मंत्री दिखे आश्वस्त
सबका महामानव पर
भरोसा रहा बरकरार
सबने ट्वीट किए रिट्वीट
इस तरह देश-दुनिया को
सबने दिखाई अपनी सक्रियता
कोई कहीं झांकने नहीं गया
अस्पतालों में तड़पती रही मानवता
घरों में मचा रहा कोहराम
इस बीच उन्होंने जुगाड़ी अपने और
अपनों के लिए वैक्सीन।

(10)
इस बीच शरीर से प्राणवायु रूपी
ऑक्सीजन निकल जाने भर से
इतनी हल्की हो गई लाशें
कि खुद ही अस्थि कलश बन गईं
और तैर गईं सैकड़ों किलोमीटर
गंगा मैया की धार पर सवार
कुछ बदनसीब मरकर भी बने रहे बेगैरत
इससे पहले कि मुक्त हो जाते सशरीर
गिद्धों, कौओं, कुत्तों के हाथों
वो आ लगे गंगा के पाटों पर
इस तरह इंसानों की बस्ती
पर भारी पड़ गए कर्मकांड।

(11)
मरे जिन्हें मरना था
सब ईश्वर का लिखा था
उसके लिखे को कौन मिटा सकता था
विधाता ने लिख दी जिसकी मौत
उसे सरकार भला बचाती भी तो कैसे
यह तो भयानक अपराध होता उस सरकार के हाथों
जो उसी के नाम पर शपथ लेकर सत्ता में आई थी।

❖

विशाखा मुलमुले

विशाखा मुलमुले के यहां दैनिक जीवन के साधारण और सादे चित्र हमें अपने साथ ले चलते हैं और हम खुद को अपने समय के मुकाबिल पाते हैं।

समय से आगे

बेटा झुंझुलाते हुए कहता है
चार दीवारी के जीवन में
तीन हैं दीवार घड़ियां और
तीनों का समय अलग-अलग
मालूम ही नहीं पड़ता
कौन-सा समय है सही समय

मुस्कुराते हुए कहती है माँ
सुनो बेटा -
सही समय को हासिल करने
चलना पड़ता है समय से पहले

करनी पड़ती है,
सूर्योदय के पूर्व ही जगने की तैयारी
अध्ययन आरम्भ होने से पहले
छात्र बन उपस्थित रहने की तैयारी

अनुभव से कहती हूँ,
जब हम जमा कर रहे थे गाने कैसेटों में
तब सी डी का जमाना आ गया
जब हम सीख रहे थे टाइपिंग
तब कम्प्यूटर समक्ष आ धमका
देखते ही देखते

एलबम से स्मृतियां
पेन ड्राइव में आ पहुंची
अलेक्सा को कहने भर से
इच्छाएं होने लगीं पूरी

तुम भी तो बताते हो चार्ट देखकर
मार्केट का पूर्वानुमान
तो सही समय को साधने के लिए
समय से पूर्व ही हो जाओ तैयार

बटरफ्लाई इफेक्ट

एक तितली के पँख की फड़फड़
बदल सकती है मौसम
बदल सकती है हवा की दिशा

दूर काबुल में अनेक पँख फड़फड़ा रहे हैं
वे बगीचों से वापस घरों के भीतर कैद नहीं होना चाहते
वे स्वतंत्र से परतंत्र नहीं होना चाहते

उनकी फड़फड़ाहट से बढ़ रहा है धरा का तापमान
पिघल रहे हैं ग्लेशियर
समुद्रों में उठ रहा तूफ़ान

अश्रुओं से भीगी नम हवा
नहीं सोख पा रही वस्त्रों का पसीना
मैं चिंता, भय व आशंकाओं से तरबतर हूँ

उनके जाने के बाद

जब घर हरा भरा था
तब उसकी एक चाबी मेरे पास रहा करती थी
आज जब घर खाली है
तब उस घर की सारी चाबियां मेरे पास हैं

भरे घर में मेरी पहुँच बैठक तक थी
मन के तल में कहीं गहरे तक थी
खाली घर में बस खालीपन था
निचाट सन्नाटा
मौन धरे फुफकार रहा था

वही दीवारें थीं
वही खिड़कियां थीं
पर अब खालीपन को जकड़े जड़ खड़ी थी
एक नामालूम अजनबीपन की गंध हवा में तैर रही थी
पुराने रिश्ते की चादर को ज्यों समेट रही थी

घर से नहीं घरवालों से मेरा सम्बंध था
उनके स्थानांतरण के बाद
चाबियां होकर भी
उस घर का दरवाजा मेरे लिए बंद था

नींव

उसे आ रहा था चक्कर
शायद रक्तचाप कम हुआ था उसका
कम ही होगा
अधिक रक्तचाप की गुंजाइश ज़रा कम है
भूखे पेट वह कर रही है सुबह से दोपहर
दूसरों के घरों में काम
चाय की प्याली और दो नमकीन बिस्कुट थमाते
उसे क्या सलाह दूँ ?
कम काम किया कर
कुछ खा के निकला कर
नमक का मापदंड सही रखा कर

शक्कर की भी कमी हो सकती है
जो पड़ती है

नमक से मूल्य में अधिक ही
वह अभी जुगाड़ रही है नमक
शक्कर की मात्रा रखे संतुलित
कहते हुए उसे
मेरी जीभ लड़खड़ाती है

इन दिनों, घर के बाहर
सुबह से शोर मचा रहता है
इमारत को देने आधार
मुड़े सरिए ठोक पीट कर किये जाते हैं सीधे

शोर से तंग आकर
मैं बड़बड़ा रही थी इक दिन
इतने तो खाली घर बने पड़े हैं
नए घरों को बनाने की क्या है जरूरत
यह सुनते ही,
उसकी आँखों में ठहर गया पानी
लगा मुझे घर का सपना रहा होगा उसका भी
जो मेरे कहे से हुआ चोटिल

पर नहीं
उसके और घर की चाह में थी कई कोस की दूरी
उससे पहले तो
भोजन और बच्चों की शिक्षा का था दावानल
पानी का टैंकर पहुँचाता था निर्माण स्थल तक उसका पति
देहाड़ी खोने का हुआ था उसे डर

जनसंख्या, गरीबी, भूख, बेरोजगारी
पर्यावरण, जल स्तर, धूल, प्रदूषण
कितने गुत्मगुत्था है सारे मसले
मैं समस्याओं का सिरा ढूंढने में लगी थी कि
इतने में वह झुकी थी, सीधी हुई
पेट को देने आधार
उसकी रीढ़ का सरिया फिर कड़कड़ाया !

❖

असलम हसन

असलम हसन की कविताएं अपने समय के मुकाबिल पश्त दिखते साधारण जन की ताकत को उद्घाटित करने की कोशिश करती हैं।

मेरी कविताएं

मेरी कविताएं शायद कागजी घोड़े हैं
या महज शब्दों की कलाबाजियां
कल्पना की महीन कोशिकाओं में
महसूस करता हूं टीस
खोखले बयानबाजी से रचता हूं संसार
कपाल की कठोर हड्डियों में कुशलता से
टांकता हूं संवेदनाओं के पैबंद
और इस तरह पृष्ठ के मध्य लिखता हूं
हाशिये का दर्द...

बंद दरवाज़ों से बाहर

बन्द दरवाज़ों के आगे जो रास्ता है
आज भी निकलता है दूर तक
उन कदमों के बगैर भी जो
टिकते नहीं थे आसानी से जमीं पर
सरसराती हवा अभी अभी निकली है
खिड़की छू कर
और धूप भी खिलखिलाती
उतर आयी है आंगन में
छत पर चाँद देखने की चाहत
अब सिर्फ रात को है

बाहर अगर खौफ़ हो मौत का
तो सिमट आती पूरी दुनियां
घुटन भरे कमरों के भीतर
टिक जाते हैं मगरूर कदम
अपनी तंग जमीं पर
और बहुत आसान लगता
आंखों की तन्हाई में देखना
टिमटिमाते तारों को
बाहर अगर दम घुट जाने का खतरा हो
तो बेहतर है साँसें थाम कर सुनना
परिंदों की आवाज़
और रफ़्तार से महसूस करना
उनकी बुलन्द परवाज़।

मजदूर

मैं एक मजदूर हूं
मेरी भुजाओं में फड़कती है धरती
ये तोड़ सकते हैं पहाड़ों को
और मोड़ सकते हैं नदियों की धाराओं को.......
मेरे पांव बड़े बलशाली......
थकते नहीं रूकते नहीं
उठाता हूं कंधों पर संसार
मेरी मुट्ठी में क्रांति है
मेरे होठों पर गीत है और आँखों में पानी

मेरा पेट... मेरा पेट...
नहीं मैं झूठ नहीं बोल सकता।

रिक्शावाला

तीन पहियों से बिठाकर
साम्य
गति से
भागता है आगे

फिर भी पीछे बैठे हुए आदमी से
बहुत पीछे
छूट जाता है रिक्शावाला

हँसता है कंकाल

वे जो पहाड़ों की सैर नहीं करते
अपने कंधों पे ढोते हैं पहाड़
वे जिनके बच्चे कभी नहीं जोड़ पाएंगे
लाखों - करोड़ों का हिसाब
रटते हैं पहाड़ा
वे जो सींचते हैं धरती-गगन अपने लहू से
रोज मरते हैं पसीने की तेजाबी बू से
वे जो मौत से पहले ही हो जाते हैं
कंकाल
कभी रोते नहीं
शायद हँसी सहम कर
ठहर जाती है
हर कंकाल की बत्तीसी में।

पिता

बच्चे बड़े हो गये
और बौना हो गया है पिता
घर का एक बेकार कोना
बिछौना हो गया है पिता
अपने पाँव पर खड़े हो गये
खेलते बच्चे
और खिलौना हो गया है पिता.....

जिन्दा दफ़न कर दी गई बेटियों के नाम

(पवित्र कुरआन में वर्णित कयामत के दिन के मंजर पर आधारित कविता)

जब खींच ली जाएगी आसमान की खाल

और सूरज सवा नेज़े पर आ जाएगा
जब उँटनियाँ बिलबिलाएंगी और
पहाड़ रुई बन जाएगा
जब माँ इन्कार कर देगी अपने बेटों को
पहचानने से
तब उस कयामत के दिन 'अल्लाह' माँगेगा हिसाब
जिन्दा दफ़न कर दी गई
बेटियों से पूछा जाएगा
बताओ तुम्हें किस जुर्म की
सजा दी गई थी
तब उस इंसाफ के दिन
मेरी बेटियो तुम तोड़ देना अपने-अपने
सब्र का बाँध
शायद खुदा के सामने
हश्र का मैदान पानी-पानी हो जाए।

(हश्र का मैदान, वो मैदान जहाँ कयामत के दिन अल्लाह इंसाफ करेगा)

युद्ध

बंजर खेतों में खोजना सिर्फ बारूद की फसलें
गर्द-आलूद फौजी जूतों में देखना जरखेज मिट्टी के
निशान....
पूछना उस वीरान शहर से उसे आबाद होने में
कितना वक्त लगा था
और कितना वक्त लगा उसे वीरान होने में
पूछना रेत से तेल निचोड़ लाने वाले हुनरमन्द
सिपहसालारों से
कि युद्ध आखिर जीता कौन
अब खौफनाक जिन्दा चीखें हैं या मुर्दों का मौन...।

❖

मुंबई

एक शहर जो खो गया

विजय कुमार

यह हमारे इस स्मृतिविहीन समय का मूल चरित्र है। चीजों को उनके मूल अर्थ से विच्छिन्न कर उन्हें एक 'तमाशे' में बदल दिया जाता है, ठीक उसी तरह से जैसे फैशन की अति आधुनिकता को प्रदर्शित करता हुआ एक पॉप सिंगर घुटनों के पास से फटी हुई जीन्स पहन कर गाता है। शहर बदला है और इसी के साथ गुम हो गयी है मज़दूरों और कामगारों की एक समूची पीढी, उनकी पहचान और संगठित श्रम संस्कृति का वह दौर।

अपने निजी जीवन में हम जाने-अनजाने अपना कितना कुछ खोते रहते हैं। दोस्तियां, प्रेम-सम्बन्ध, नाते-रिश्तेदार, सफलताओं के अवसर, चाबियों के गुच्छे, छाते, पुरानी चिट्ठियां, डायरियां, टेलिफोन के नम्बर आदि आदि। इस सबकी एक लम्बी सूची बनयी जा सकती है। इन्हें खो देने की भीतर बहुधा एक कचोट भी बनी रहती है। पर ये हमारे निजी जीवन में खो गयी चीजें होती हैं। अपने सार्वजनिकि जीवन में भी तो हम कितना कुछ खोते चले जाते हैं जिसकी हमें खबर तक नहीं होती। समय की परतों के भीतर हम अपना वह शहर खो देते हैं, अपनी वे पुरानी गलियां-मोहल्ले हमसे कहीं छूट जाते हैं, उन मोहल्लों में बसी हुई वे आवाजें कहीं बिला गयी होती हैं। ये गलियां, मोहल्ले, चौराहे, पार्क, बाज़ार, पुरानी इमारतें, उनकी बुनावट और उनमें बसा हुआ वह समय कभी कभी चेतना के घुप्प अंधेरे में महज एक बिजली की कौंध की तरह दमकता है। वह खो गया शहर और उसका वह मंज़र सिर्फ एक प्रेत-समय बन कर हमारी स्मृतियों में टंगा रह जाता है जबकि हम कभी भी इस शहर को छोड़ कर कहीं नहीं गये थे, हम यहीं थे और एक पूरी उम्र हमने यहां गुज़ार दी। स्मृतियों में लिपटा हुआ वह शहर हमारा अपना हड़प्पा, मोहन जोदाड़ो या बेबिलोन बन जाता है।

गुरुदत्त द्वारा निर्देशित पुरानी फिल्म 'सीआईडी' को पिछले दिनों मुझे दोबारा देखने का अवसर मिला। मुझे सहसा यह एहसास हुआ कि उस फिल्म के एक गाने 'ये है बम्बई मेरी जान' में जॉनी वाकर जिस 1955 की बम्बई को दिखा रहा है वह मैं बहुत पहले खो चुका हूं।

न चर्चगेट स्टेशन की वह छोटी-सी सादा इमारत रही, न चौपाटी वैसा रहा, न फ्लोरा फाउंटेन का चौराहा, न पायधुनी, न वर्ली सी फेस और न मैरिन ड्राइव का वह अंतिम छोर वैसा रह गया। और वे चालीस के दशक की ब्यूक और ऑस्टिन मॉडेल की बड़ी-बड़ी टेक्सियां नहीं रहीं, ट्रामें खत्म हो गयीं, नीली वर्दी और हाफ पैंट पहने हुए वे पुलिस हवलदार हमारी यादों से बाहर निकल गये। विडम्बना तो यह है कि जॉनी वाकर जिस विक्टोरिया की ऊंची सीट पर बैठ कर अलमस्त होकर वह गाना गा रहा है 'ऐ दिल मुश्किल है जीना यहां, ये है बम्बई, ये है बम्बई, ये है बम्बई मेरी जान' विक्टोरिया की वह सवारी भी चलन से बाहर हो गयी। इन विक्टोरिया सवारियों के सैकड़ों घोड़ों को कभी मैं बम्बई सेंट्रल के पास एक विशाल अस्तबल में देखा करता था। आज वहां ऊंची ऊंची इमारतें हैं।

तब लेमिंग्टन रोड हमारे लिये किसी तीर्थ-स्थल से कम नहीं था। समूचे लेमिंग्टन रोड से जुड़ी अपनी कैशौर्य और युवावस्था की असंख्य बेतरतीब स्मृतियां मेरे भीतर हैं। नाज़, स्वस्तिक, मिनर्वा, अप्सरा, नॉवेल्टी, इम्पीरियल, कृष्णा ड्रीमलैंड, अलंकार, ऑपेराहाउस– ये सब हमारे लिये सिर्फ कुछ सिनेमाघरों के नाम नहीं थे। जब इन धमनियों में रक्त जरा ज़्यादा तेज गति से दौड़ता था और जीवन इतना ज्यादा यांत्रिक नहीं था, हमने इस समूची मानव जाति के हक में अपना बेशुमार समय इन अंधेरे जादुईघरों के भीतर और उनके बाहर बिताया था। वह सिर्फ मनोरंजन नहीं था। इन सिनेमाघरों ने हमारे व्यक्तित्व को गढ़ा, हमें अपने आंसू और अपने कहकहे दिये, हमें अपनी पसंद और नापसंद के साथ एक पुरज़ोर तरीके से जीना सिखाया तथा सपनों और वास्तविकताओं के बीच फैली सारी सीमा रेखाओं को हमने पार कर लिया था। अपने सुख-दुख में हमें उपनिषदों की सूक्तियां नहीं मोहम्मद रफी, मुकेश और तलत महमूद के गाने याद आते थे। प्रकाश, नवरंग, रूपतारा, श्री साउंड, रणजीत फिल्मालय, कमाल, कारदार, आशा, बसंत स्टुडियो में हम रोशनियों और अंधेरे के मेल- जोल से बनी एक जादुई दुनिया को रचे जाते हुए देखते थे। वह सब खत्म हुआ। मेरे अपने शहर में एक सिनेमाघर या एक सिनेमा स्टुडियो की मृत्यु हमारे अपने उस अंश की मृत्यु भी है।

उन दिनों इस शहर के प्रायः हर प्रमुख चौराहे पर ईरानी होटल थे। सफेद मार्बल के टेबल टॉप पर एक कप चाय, खारी बिस्कुट और बन मस्का के आर्डर के साथ होती अंतहीन गपशप ने इस शहर में कला, विचार, फलसफे, मुहब्बत, याराने, ताने-उलाहने, बहसों, शिकवे-शिकायतों, मिलने-बिछुड़ने, संघर्ष, यूटोपिया और सपनों की एक अनोखी संस्कृति को रचा था। चर्चगेट स्टेशन के सामने जहां आज एशियाटिक डिपार्टमेंटल स्टोर है उस जगह पर हमारे कॉलेज के दिनों में एशियाटिक नाम का विशाल ईरानी रेस्त्रां हुआ करता था। गप्प-गोष्ठी वालों का एक मनपसंद अड्डा। प्रसिद्ध फिल्मकार एम.एस. सथ्यु बताते हैं कि एक शाम इस रेस्त्रां में नाटककार सत्यदेव दुबे एक गपशप में प्रगतिशीलों और वामपंथियों की खूब बखिया उधेड़ रहे थे। वे वहां मौजूद हर किसी पर भारी पड़ रहे थे। उसी समय ऑपेरा हाउस के पास ज्योति स्टूडियो में बलराज साहनी किसी फिल्म की शूटिंग कर रहे थे। 'यू रिमेम्बर द डेविल एंड ही इज़ देयर'। उन्हें किसी ने खबर कर दी। उन्होंने अपनी मोटर साइकिल उठायी और

दस मिनट में वे एशियाटिक रेस्त्रां में थे। बलराज साहनी को अचानक सामने देखकर दुबे जी की बोलती बंद हो गयी। यानी कि यह एक जादुई और आवेगों से भरी दुनिया थी और कुछ भी असंभव नहीं था। लेकिन कब हमारा अपना वह शहर गुम हो गया और हमने वह संस्कृति खो दी हमें इसका इल्म तक नहीं हुआ।

अक्सर मैं लोअर परेल के उस पुराने मज़दूर इलाके में भटकता हूं। वहां एक फिनिक्स मिल हुआ करती थी। नब्बे के दशक में वह मिल बंद हो गयी। और उसकी जगह अब एक लकदक जगमगाता हुआ फिनिक्स शॉपिंग मॉल खड़ा हो गया है। एक यूनानी मिथक है कि फिनिक्स पक्षी अपनी राख से दोबारा जन्म लेता है। पर शायद अपने नये रूप में वह पिछले जन्म जैसा नहीं होता। नयी पूंजी आ रही है। गति तेज है। शहर रोज बदल रहा है। वह एक पुराना शहर था जो अब केवल कुछ सिरफिरों, शायरों, कलाकारों, दीवानों, दरवेशों, स्वप्नजीवियों के भीतर बचा रह गया है। क्या स्मृति आज के इस युग में सचमुच कोई बड़ी फालतू-सी चीज है। मुझे इसे स्वीकार करने का मन नहीं होता। मैं तो उस गुम हुए शहर को हर क्षण अपने शिराओं में जीता हूं।

* * *

शहर के भीतर एक शहर

हमारी आंख में नक्शा ये किस मकान का है
यहां का सारा इलाका तो आसमान का है
- शहरयार

वह एक बस्ती है। कल वह रहेगी नहीं। शहर के बीचोंबीच स्थित धारावी नाम की इस एक सदी से भी ज़्यादा पुरानी बस्ती पर पिछले एक दशक से अब राजनीतिज्ञों, बिल्डरों, टाउन प्लानरों, विकास-विशेषज्ञों और भारी पूंजी निवेशकों की आंखें गड़ी हुई हैं। वे दबी-कुचली, धूल-मिट्टी में सनी मेहनतकश गरीब जनता को वहां से उखाड़ फेंकना चाहते हैं और इस खाली की जाने वाली ज़मीन पर धनिक वर्ग के लिये भव्य गगन चुम्बी इमारतें, अत्याधुनिक शॉपिंग मॉल, विशाल पार्क, क्लब और जगमागाते ऑफिस कॉम्पलेक्स खड़े करने के इरादे बन रहे हैं। समाज के इस सबसे निचले तबके को विकास के सब्ज़-बाग दिखाये जा रहे हैं कि हम तुम्हें तुम्हारे झोंपड़ों और टीन-टप्परों से निकाल कर उनकी जगह यहां बनने वाली ऊंची इमारतों में तुम्हें दो-ढाई सौ वर्ग फीट के फ्लैट देंगे। उनमें बिजली, पानी और शौचालय की सुविधा होगी। इस तरह तुम्हारा रहन-सहन आधुनिक हो जायेगा। असल मकसद तो यह है कि किसी तरह उस विशाल भू-भाग को खाली कराया जाये। 90 के दशक में खुली अर्थ व्यवस्था के साथ जो भारी मात्रा में विदेशी पूंजी निवेश हुआ है उसने मुम्बई में आज ज़मीन की कीमतों को दुनिया में सबसे ज़्यादा मंहगा बना दिया है। पूंजी निवेशकों के लिये धारावी भविष्य का एक मिथक है, मेगा प्रोजेक्ट है, सोने की खदान है। लेकिन आज यह एशिया की

सबसे बड़ी झोंपड़-पट्टी है।

मैं धारावी के नाइक नगर, संगम गली, कुंची कोरवे नगर, धोबीघाट, माकड़ा बाज़ार, टेकडा मस्ज़िद, लेबर कैम्प, चमड़ा बाज़ार और कुम्भारवाड़ा की गलियों में नाशादो-नाकारा भटक रहा हूं। ये पतली-पतली गलियां आपको बुलाती हैं। हर जगह दृश्य अबूझ रहस्यों की तरह खुलते हैं। अति साधारण दैनिक जीवन का एक आश्चर्यलोक। बकरियां, मुर्गियां, आवारा कुत्ते, स्कूटर, साइकिलें, ठेले वाले, मोबाइल और स्टोव रिपेयरिंग शॉप, कल-पुर्जों के वर्कशॉप, किराने और गोश्त की दुकानें। छोटे छोटे कुटीर उद्योग। हर कोई किसी गतिविधि में मुब्तिला है। मैं कामराज नाडार मेमोरियल इंग्लिश हाई स्कूल के सामने खड़ा हूं। तंग गलियों से छोटे-छोटे हंसते-खेलते बच्चे बस्ता लटकाये स्कूल जाने के लिये निकल रहे हैं। सुबह की सुहानी धूप के बावजूद इन तंग गलियों में एक सलेटी-सा अंधेरा है। हर जगह पलस्तर उखड़ी दीवारों से झांकती ईंटों और टिन की छतों वाले एक मंजिला या दुमंजिला मकान हैं। आंगन में रखे पानी के पीपे और तार पर सूखते हुए कपड़े। लोहे के बहुत संकरे ज़ीने और दीवारों से लटकते हुए केबल नेटवर्क के तार। हर घर में रेडियो पर कोई फिल्मी गाना बज रहा है या टीवी पर कोई मधुर दृश्य चल रहा है। दरवाजों पर गेहूं बीनती हुई स्त्रियां हैं। किसी स्लम बस्ती को महज कीचड़, खुले गटर, बदबू और कूड़े के ढेर का पर्याय मानने वालों को देखना होगा कि इस गंदगी के बीच भी स्पंदित एक सामूहिक मानव जीवन की अनोखी लय है।

एक सदी पहले यह शहर का बाहरी हिस्सा था। जो खाली पड़ी दलदली ज़मीन थी उसे आबाद किया था इन बाशिन्दों ने। देश के अलग-अलग हिस्सों से अपनी खेतीबाड़ी और पुश्तैनी कारीगरी से उखड़ कर आये हुए ये लोग। टिन-टप्पर, बांस की खपच्चियों और टाट से उन्होंने अपने घर खड़े किये। देखते देखते यह ऐसे लाखों लोगों की एक कॉस्मोपॉलिटन बस्ती बन गयी। बिजली, पेयजल, शौचालय, ड्रैनेज, सड़क, शिक्षा, स्वास्थ्य की बुनियादी सुविधाओं से वंचित एशिया का सबसे बड़ा 'स्लम'। पांच सौ एकड़ ज़मीन पर करीब दस लाख लोगों की रिहाइश। अलग-अलग धर्म और अलग अलग संस्कृतियों के लोग। धारावी यानी कि धूल-गर्द, कीचड़, कचरे के ढेर, खुली नालियों, अभावों, बीमारियों, तनावों, मेहनत-मजूरी, पसीने और उम्मीदों के साथ साथ तमाम तरह की असामाजिक गतिविधियों, गुंडों, मवालियों, पेशेवर अपराधियों के सह-अस्तित्व से बना औद्योगिक महानगर का एक तलघर। अपने इन तमाम तरह के अन्तर्विरोधों के साथ अपनी अनोखी ज़द्दोजहद और उद्यमशीलता से सबको चकित करने वाला धारावी। इस विशाल आबादी में बिना किसी सरकारी मदद, मंजूरी और आधारभूत सुविधाओं के पिछले कुछ दशकों में छोटी-बड़ी वे पांच हज़ार औद्योगिक इकाइयां खड़ी हो गयीं जिनमें चमड़े की रंगाई, वस्त्रों की सिलाई, कुम्भकारी, कल-पुर्जों की मरम्मत, जरी का काम, खाद्य सामग्री संसाधन, कचरे से प्राप्त प्लास्टिक की रिसाइकिलिंग जैसी तमाम गतिविधियां हो रही हैं। आज यहां लगभग सात लाख लोग अपनी-अपनी 'खोलियों' में बैठकर कुछ उत्पादन कर रहे हैं। श्रमिक के आवास और उसके कार्यस्थल की इस एकरूपता ने सस्ते श्रम का सबसे बड़ा चमत्कार पैदा किया है। समाज वैज्ञानिकों, अर्थ विशेषज्ञों, मनोशास्त्रियों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों, फिल्मकारों सबकी दिलचस्पी का केन्द्र रही है यह

बस्ती। अमेरिका के हावर्ड बिजनेस स्कूल में 'केस स्टडी' के रूप में धारावी पर शोध कार्य हुए हैं। एक समय जो शहर के बाहर एक उपेक्षित पड़ी दलदली ज़मीन थी, उस पर यह बस्ती बसी थी। इन्होंने किसी से कुछ नहीं मांगा। शहर ही बस्ती के चारों तरफ फैलता गया। आज यह सत्ता-तंत्र की आंखों की किरकिरी बनी हुई है। नगर योजनाकारों ने धारावी के रूपान्तरण का 15 हज़ार करोड़ रुपयों का एक कार्यक्रम परिकल्पित किया है। लेकिन धारावी के लोग उसे एक छलावा मानते हैं। शायद वे अच्छी तरह से जानते हैं कि 'खोलियों' से आधुनिक फ्लैटों में चले जाने से उनका जीवन सुधरेगा नहीं, बल्कि वे अपनी इस अनौपचारिक उद्यमशीलता को भी खो बैठेंगे। तब उनके पास काम करने की कोई जगह नहीं होगी। और पचास प्रतिशत से ज्यादा लोग तो सरकारी विकास योजनाओं के लिये अनधिकृत हैं। उनके नाम किसी सूची में दर्ज नहीं हैं। उनका समूचा वजूद ही अनधिकृत है। वे सतत निर्वासित और निष्कासित हैं, भले ही यहां रहते हुए उन्होंने पूरी उम्र गुज़ार दी। यानी कि हमारे युग में बस्तियां अब युद्ध, बाढ़, भूकम्प, महामारी से नहीं, पूंजी के भारी निवेश और विकास के नाम पर उजड़ेंगी।

टेकड़ा मस्जिद की संकरी-सी गली में ठेले पर मिर्च और अदरक बेचते निसार अहमद से मैं पूछता हूं कि देर सबेर यहां जो बदलाव आने वाले हैं क्या उनके बारे में सोचकर वे खुश हैं? झक सफेद दाढ़ी वाले चाचा निसार आंखों में एक अजीब सी उदासी और फीकी हंसी के साथ कहते हैं, "बाबूजी, क्या बच्चों वाले सवाल पूछ रहे हो।"

* * *

एक गरीब बस्ती में घुमक्कड़ी

महान रूसी लेखक मेक्सिम गोर्की के नाटक 'लोअर डेप्थ्स' में एक खोह जैसी शरणस्थली में कुछ बेघर लोग हैं जो सिर्फ धुंधली-सी मनुष्य आकृतियां बनकर रह गये हैं। धारावी के नाइक नगर की उन बेहद संकरी गलियों में जहां आसमान का एक छोटा-सा टुकड़ा भी दिखायी नहीं पड़ता, हर गली में चलती फिरती इसी तरह की बहुत-सी मनुष्य छायाएं हैं। उनके सिर्फ़ वजूद हैं, चेहरे नहीं हैं। वे तेज-तेज कदमों से आपके बगल से निकल जाते हैं। आप सड़क चलते उनकी बातचीत के बहुत-से टुकड़ों को बटोर कर अपने झोले में भर सकते हैं–

"माल सप्लाई हुआ नहीं, फुल नाइट ओवरटाइम करना पड़ेगा"

"पइसा सब बाप के इलाज में खर्चा हो गया यार। वो दारू भी नहीं छोड़ता और जाता भी नहीं"।

"लीडर लोग के बाप का नहीं है ये देश!"

"कल केमिकल फेक्ट्री में किशोर का हाथ जल गया"

"रात को सपना देखा तू साला सउदी गयेला है रे"

"देख अपना भी नसीब खुलेगा एक दिन"

कादरी मस्जिद से दोपहर के नमाज़ की अज़ान लाउडस्पीकर पर ज़ारी है। ख्वाज़ा गरीब नवाज़ एक छोटा-सा ढाबा है। तीन बेंचों पर करीब बीस लोग बैठे हैं। अल्युमिनियम के बड़े बड़े पतीले। दुकान के बाहर अंगीठी के दहकते कोयलों पर सिंकती रोटियों की महक। यह महक गली के कोलाहल, वाहनों के शोर, धूल, गर्द, बदबू और सीलन पर भारी पड़ रही है। बाहर मैले से बोर्ड पर लिखा है– '30 रुपये में पेट भर खाना– अंडा, चिकन, चावल, रोटी, सालन, दाल'। एक दुकान का बोर्ड है– 'अलनूट मनी सेंटर'। बोर्ड पर लिखा है 'यहां से 24 घंटे और सातों दिन सभी बैंकों को पैसा भेजा जाता है'। इस गली से तमाम पतली-पतली गलियां भीतर जाती हैं। यहां कोई गली अंधी गली नहीं। हर गली का का सिरा किसी दूसरी गली से जुड़ जाता है। एक गली में एक मनिहार हांक लगाता चला जा रहा है। आवाज़ सुनकर अचानक तीन स्त्रियां कहीं से निकल आयी हैं। फिर पांच और स्त्रियां प्रकट हो गयी हैं। इन थकी हुई औरतों की बातों में साबुत चूड़ियों की खनखनाहट है। मनिहार राजकिशोर जैसवाल बताता है कि वह आज़मगढ़ से 26 साल पहले आया था। हर महीने 6-7 हज़ार कमा लेता है। 4 हज़ार गांव भेज देता है। बाकी 3 हज़ार में अपना अकेले का टाइम खींच लेता है। वह एक दिलचस्प बात बताता है कि दिन का खर्चा तो घूम-घाम कर निकल ही जाता है। एक दूसरी बहुत संकरी गली में टिन के छेद से आता धूप का एक टुकड़ा घुप्प अंधेरे में किसी आश्चर्य की तरह है। वहां एक छोटा-सा बच्चा अपनी हथेली पर एक चूज़े को उठाये उससे बातें कर रहा है। बगल में एक बूढ़ी औरत बर्तन मांज रही है। यह धूप का टुकड़ा उन बर्तनों पर किसी अलौकिक जादू की तरह बैठा है। लेकिन यह धूप का टुकड़ा रूमानी कविताओं में मिलने वाले उस धूप के टुकड़े से बहुत अलग है। यहां तो प्रतिदिन कोई स्त्री किसी शिशु को जन्म दे रही होती है। कुछ नौजवान अपने-अपने गांवों से भागकर इस बस्ती में शरण ले रहे होते हैं। कुछ बच्चे शहर भर में कचरों के ढेर से बीन कर लायी चीजों को बोरों से निकाल-निकाल कर ठेकेदारों को सौंप रहे होते हैं। कुछ बूढे कुंभार चलते चाक पर मिट्टी को आकार देते हुए अपनी ज़िंदगी के पिछले तमाम वर्षों को अपनी झुर्रियों में समेटे बैठे दिखाई देते हैं। कुछ कारीगर नंगे हाथों चमड़े की रंगाई करते-करते अपने हाथ सुन्न कर चुके होते हैं। असंगठित क्षेत्र में 650 मिलियन से 1 बिलियन अमरीकी डॉलर तक का सालाना कारोबार करने वाली इस अनधिकृत बस्ती के उदर में यह सब समा जाता है।

कुंभारवाड़ा में हंसमुखलाल चौहान के पिता सौ साल पहले काठियावाड़ से यहां आये थे। वे बताते हैं कि अपनी तो जिंदगी यहीं पार लग गयी। मैं उन्हें खुश करना चाहता हूं कि आप जैसों के बनाये हुए ये विशाल आकार के सजावटी कुम्भ और कलश ही तो ताज और रेनेसां जैसे पंच तारा होटलों की लॉबी की शोभा बढ़ा रहे हैं। हंसमुखभाई निर्विकार हैं– "मणे कइ फर्क पडतो नथी भाई! आपणा तो जीवन माटी समान। वही भट्ठी। वही आसमान तक उठता काला धुंआ। वही घूमता चाक। वही सुबह से शाम तक जात-जात के भांडे। हमारे बच्चे तो अब इस काम को हाथ लगाना भी नहीं चाहते।"

हृदय की सारी तरलता के बावजूद मेरे भीतर अजीब-सा सवाल उठता है। इस बस्ती में

आखिर हम क्या हैं? अन्ततः केवल कुछ दृश्य-खंडों के रचयिता? एक लक्ष्मण-रेखा है जिसे हम कभी लांघ नहीं पाते। फिर अपनी अपनी सुरक्षित दुनियाओं में लौट जाते हैं। लेकिन जिन्होंने पूरी उम्र यहां बिता दी उनका जीवन केवल 'दृश्य' नहीं है। वे निर्धनता के टापुओं पर खड़े सूनी-सूनी आंखों से हमें देखते रहते हैं। यह मुक्तिबोधियन त्रासदी है। यह भी अकारण नहीं कि 'स्लम डॉग मिलेनियर' जैसी फिल्मों के बाद धारावी जैसी बस्ती में विदेशी सैलानियों के लिये 'पॉवर्टी टूरिज़्म' खूब फला-फूला है। 35 डॉलर प्रति व्यक्ति तीन घंटे का 'धारावी स्लम टूर'। बीसियों विदेशी सैलानी यहां आये दिन दिखाई पड़ते हैं। बड़ी तत्परता से निर्धनता को कैमरों की क्लिक में कैद करते हुए। धारावी के सामुदायिक संगठन के कार्यकर्ता अरपुथम कहते हैं– "ये गोरे लोग धारावी की इस बस्ती को ऐसे देखने आते हैं जैसे चिड़ियाघर की सैर को आये हों।" ..और मैं अपने आप से सवाल पूछता हूं कि अगली बार जब मैं कोलाबा काज़वे या बान्द्रा लिंकिंग रोड के किसी फैशनेबल स्टोर में चमड़े का पर्स, बेल्ट या बैग खरीद रहा हूंगा तो क्या पल भर को भी मुझे ध्यान आयेगा कि यह सामान धारावी की किन काल कोठरियों के भीतर तैयार हुआ है? अन्ततः इस सभ्यता ने मुझे तैयार माल का केवल एक उपभोक्ता ही तो बना छोड़ा है!

* * *

मंटो की बम्बई

महान आइरिश लेखक जेम्स जॉयस ने एक बार कहा था कि "मेरा शहर डबलिन अगर इस पृथ्वी के नक्शे से गायब भी हो जाये तब भी वह मेरी कहानियों में बचा रहेगा।" उर्दू के महानतम कथाकार सहादत हसन मंटो ने भी अपने अफसानों में बम्बई शहर के एक खास 'नरेटिव' को अमर कर दिया है। पंजाब के समराला नामक स्थान में पुश्तैनी बैरिस्टरों के खानदान में जन्मे मंटो ने अपने वालिद के तमाम विरोध के बावजूद अपने लिये एक लेखक का जीवन चुना। 1936 में 24 वर्ष की उम्र में वे एक उर्दू फिल्म साप्ताहिक 'मुसव्विर' के बुलावे पर बम्बई आये थे। यहां उन्होंने पत्रकारिता की, सिनेमा की पटकथा लिखी और अपनी वे कहानियां लिखीं जिन्हें आज समूचे एशियाई साहित्य में बेजोड़ माना जाता है। एक आधुनिक कॉस्मोपोलिटन औद्योगिक महानगर के तलघर में सांस लेती हुई ज़िन्दगियों को मंटो ने खुली आंखों से न केवल देखा बल्कि उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर अपने अफसाने लिखे। यह तीस और चालीस के दशक का बम्बई था। मंटो एक जगमगाते हुए शहर में भयानक निर्धनता, अकेलेपन, मूल्यहीनता, सडांध और मज़हबी जुनून के बीच घिरी हुई जिंदगियों के तल्ख यथार्थ को रच रहे थे। फुटपाथों पर ग्राहकों की तलाश में खड़ी जिस्मफरोशी करने वाली मजबूर औरतों का पसीना, देश के विभाजन के दौर का भयावह रक्तपात और एक अद्धे पैग की खुमारी में डूबा हुआ एक शोक-संतप्त तनहा मन मंटो के लेखन में एक दूसरे में आवा-जाही करते दिखाई देते हैं। विभाजन की त्रासदी को सह पाना उनके लिये बहुत कठिन था। गंगा-जमुनी तहज़ीब को लहू-लुहान कर देने वाला यह ज़ख़्म मंटो की कहानियों में

लगातार रिसता रहा। एक शहर की फिज़ा, उसके अभिप्रायों, इतिहास की विराट उथल-पुथल और एक लेखक की निजी जिंदगी के उतार-चढ़ावों का एक दूसरे में गुंथ जाना मंटो के लेखन को अप्रतिम बनाता है। करीब बारह वर्षों तक वे इस शहर में रहे। बेहद संताप की मनःस्थिति में जनवरी 1948 में एक दिन चुपचाप मंटो अपना यह शहर और यह देश छोड़कर लाहौर चले गये। जाने से पहले न उन्होंने अपने करीबी दोस्त अभिनेता अशोक कुमार को कुछ बताया, न लेखिका इस्मत चुगताई को। लेकिन कौन-सा देश उनका अपना था? यह सवाल उनके लिये हमेशा अनुत्तरित रहा। बम्बई शहर को वे कभी भुला नहीं पाये। पाकिस्तान में उनकी ज़िन्दगी के अगले सात-आठ बरस भयानक मानसिक उद्वेलन, टूटन और तनहाई में बीते थे। 1955 में मात्र 43 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

मंटो सन 48 में यहां से चले गये। अड़सठ वर्ष बाद मैं एक दिन ग्रांट रोड के कुछ मोहल्लों और सड़कों पर अपने प्रिय लेखक के चिन्हों को तलाशता हूं। वह दुनिया जो मंटो की थी। ग्रांट रोड में एल्फ्रेड थियेटर के सामने की अरब गली में मंटो कुछ दिन रहे थे। मैं एक बड़े मियां से पूंछता हूं मंटो इसी गली में इस जीर्ण-सी खोका बिल्डिंग में रहते थे या किसी और चाल में? मंटो के ही शब्दों में "वह नौ रुपये माहवार की कोठरी थी। उसमें इस कदर खटमल थे छत पर से बारिश के कतरों की तरह गिरते। और मां जब पहली बार मुझसे मिलने के लिए उस गलीज़ खोली में आयीं तो उनकी आंखों में आंसू आ गये"। मैं बड़े मियां से पूछता हूं पर बड़े मियां को कुछ नहीं मालूम। किसी को कुछ नहीं मालूम। उस दौर के सारे बुजुर्ग अल्लाह को प्यारे हो चुके हैं। मैं भायखला पुल के पास क्लेयर रोड पर साप्ताहिक पत्रिका 'मुसव्विर' के दफ्तर को देखना चाहता हूं। वह दफ्तर जिसमें मंटो को नौकरी मिली थी और शुरुआती दिनों में वे उसी दफ्तर में सोते भी थे। मैं उस जगह को ढूंढता ही रह जाता हूं। मैं क्लेयर रोड पर उस अडेल्फी बिल्डिंग को भी देखना चाहता हूं जहां मंटो अपनी शादी के बाद एक व्यवस्थित से मकान में रहने लगे थे और जहां एक दिन मशहूर अभिनेत्री नर्गिस उनकी अनुपस्थिति में उनकी बीवी सफिया और साली ज़किया से अचानक मिलने पहुंच गयी थी। वह पुरानी दो मंजिला लकड़ी की इमारत कब की गायब हो चुकी है। आज वहां अभिजात और आधुनिक इमारतों की एक कॉलोनी 'खोजा कम्पाउंड' है। मैं नागपाड़ा चौराहे पर उस पुराने सारवी रेस्त्रां में जाकर कुछ देर के लिये बैठ जाता हूं जहां मंटो अक्सर अपने दोस्तों के साथ गपशप करते थे। उस पुराने और मैले-से ईरानी होटल के काउंटर पर बैठे अधेड़ व्यक्ति को भी कुछ नहीं पता कि मंटो कौन थे और क्या करते थे। सहसा मेरे मन में यह बात उठती है कि इस स्मृतिहीन समय में मैं मंटो नामक उस विलक्षण लेखक को क्यों उसके जीवन से जुड़ी कुछ खास इमारतों, सड़कों और स्थूल किस्म के सिम्बल्स तक सीमित किये दे रहा हूं? एक लेखक की वास्तविक दुनिया तो उसका बुना हुआ संसार है जहां वह अपने अनगिनत पात्रों, प्रसंगों, दृश्यों, जीवन स्थितियों और कुछ अनुत्तरित सवालों के साथ हमेशा जीवित रहता है। उनकी वह दुनिया तो आज भी उसी तरह से मौजूद है। नागपाड़ा, कमाठीपुरा, शुक्ला जी स्ट्रीट की उन तमाम बदनाम गलियों में, उनके अंधेरे-उदास कोनों में, बंद पड़े एलेक्जेंडर थियेटर के अवशेष में, पीला हाउस के पास गुलशन टॉकीज़ की दीवारों पर धुंधले पड़ गये

सिनेमा पोस्टरों में, पुरानी जीर्ण-शीर्ण चालों में, दमघोंटू अंधेरी खोलियों में, धूप में सूखती चटकीली चुन्नियों और साड़ियों में, पतली-पतली गलियों में बिछी खाट पर लेटे बीमार और अन्यमनस्क बूढ़ों में, पत्ते खेलते बेफिकर टपोरियों में, शराबियों, जुआरियों, मवालियों, दादालोगों, अर्ध विक्षिप्त-से लगते लोगों की चहल-पहल में, कटोरा लिये आपकी ओर टकटकी लगा कर देखते विकलांग भिखारियों की जलती हुई आंखों में, पटरी पर खड़ी इशारा करती चटक लिपिस्टिक और पाउडर में रंगी तवायफों की दो जून रोटी की विवश भूख में, ग्राहकों की टोह में खड़े दलालों की चपलता में, पतली पतली गलियों में चलते हुए स्टील और लोहे की फिटिंग के छोटे छोटे वर्कशॉपों में, वेल्डिंग के शोर में, लोहे से उठती चिनगारियों में, पसीने में लथपथ मज़दूरों के तमतमाये चेहरों में, गंदे गेस्टहाउसों, मैले ढाबों, मयनोशी के अंधेरे अड्डों में– मंटो की वह दुनिया तो आज भी उसी तरह से मौजूद है। ये तमाम लोग जो यहां सड़कों और गलियों में दिखाई देते हैं, वे सब मंटो की कहानियों के किरदार हैं और वे अचानक जैसे मंटो के अफसानों से बाहर निकल आये हों। चारों तरफ आवाजें, आवाजें और सिर्फ आवाज़ें। और इन आवाज़ों के पीछे से झांकती एक विचलित-सी कर देने वाली खामोशी। इस पूरे महौल में व्याप्त एक अपरिभाषित-सी वेदना, एक भयावह ऊब और ज़िन्दगी का एक अकथनीय उजाड़। यहां जिस्म फ़रोशी, भूख, लिप्सा, अपराध, हैवानियत, अकेलापन, आंसू, घृणा, खून-खराबा, उन्माद, थकन और करुणा एक दूसरे के बगल में बैठे हैं। एक अजीब-सा माहौल है। मंटो इसे अर्थ देते हैं। वे एक शहर के लगभग सिसकते हुए तलघर में हमें ले जाते हैं। यह एक अंडरवर्ल्ड है मनुष्य की धड़कनों का। अड़सठ वर्ष बाद मैं मंटो को खोज रहा हूं। मंटो कहीं गये नहीं हैं। चालीस के दशक की उनकी वह बम्बई और आज की मुम्बई में क्या कोई फ़र्क आया है? यही मंटो की दुनिया है। यही उनका एक अनूठा 'सिटीस्केप' है।

* * *

शहर में समयहीन

ज़्यादातर मैं खुद को समझा लेता हूं
पर कभी-कभी यह दबी रुलाई कि कोई मदद को आये
और बिखरी हुई अनुगूंजें ये
अपने ही अस्फुट स्वर की
अनुगूंजे उस प्रेत की जो कि खुद को मानुस कहता है
- निस्सीम एज़ेकेल

ये पंक्तियां एक बुजुर्ग कवि की हैं जिसने किसी शाम इन्हें मैरिन ड्राइव की दीवार पर बैठ कर लिखा होगा। एक पूरी उम्र इस शहर में गुज़री, भीड़ और कोलाहल के बीच दारुण अकेलापन, खुले असीम में एक रुलाई, प्रेत से फिर मनुष्य हो जाने के लिये आर्तनाद, अस्फुट

क्षीण-सा स्वर और मंद बयार में अपनी डबडबाहट का विलयन। यह वह ज़गह है जहां दूर क्षितिज पर डूबते रक्ताभ सूरज को हर शाम हज़ारों लोग देखते हैं। कुछ उनके भीतर भी डूब रहा होता है, कुछ अगली सुबह की उम्मीद-सा बचा रहता है। वे तमाम प्रेमी युगल जो अपने में तन्मय इस दीवार पर शहर की तरफ पीठ किये बैठे रहते हैं। उनकी यह पीठ समूची शहरी सभ्यता, चमक-दमक, तिज़ारत, यांत्रिकता, शोर और घिराव की तरफ होती है। एक असीम सागर, लहरें, विस्तार, मुक्ति, उमंग और बेसुधी। ऐसी बेसुधी जिसमें खोये हुए से कुछ को फिर से पा लेने का सुख है सागर की छाती पर दूर से उफनती हुए वे लहरें आती हैं, किनारे चट्टानों पर आकर दम तोड़ देती हैं। एक लहर टूटती है तो दूसरी आती है, फिर तीसरी। टूटने और जुड़ने का अबाध सिलसिला। एक समयहीन समय। वे तमाम युवा हमजोलियों की टोलियां। वे बच्चे, बूढे, घरेलू स्त्रियां और समूचा कुनबा। पहली बारिश में भीगती और दीवार पर इठलाती उन अल्हड़ अलमस्त लड़क्यिों का झुंड, वे सब जो कुछ समय बाद गृहस्थी की चक्की में पिस जायेंगी। वे घुमन्तु। वे तमाशबीन। और वे कुछ थके, उदास, तनहा और अपने में डूबे हुए लोग। मैरिन ड्राइव तमाम तरह के चेहरों का एक 'कोलाज़' रचता है। सौ वर्ष पहले समुद्र से छीन कर निकाली गयी यह ज़मीन इस शहर का एक विराट 'शो केस' है—जन समूह के भीतर की वास्तविकता, स्वप्न, अवकाश, निरन्तरता, मस्ती, उछाह, आसक्ति, आवेग, उत्कटता, चिन्ताओं, रुदन, दिलासा और आकांक्षाओं से परिपूर्ण एक जटिल मिथक को रचता हुआ। असंख्य पिक्चर पोस्टकार्डों, पर्यटन ब्रोशरों, कैलेंडरों ने मैरिन ड्राइव की इस छवि में शहर के रोमान को दर्शाया है। जाने कितनी ही फिल्मों में इस अर्ध गोलाकार सागर तट ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी जनता के सामूहिक अवचेतन में बसी किसी तरलता को जीवित किया है। ये तमाम पीढ़ियां जन्मी, पली-पुसी, उन्होंने लहरों और इन्हीं समुद्री हवाओं के साथ मिलकर गुनगुनाया फिर एक दिन फूलों की तरह मुरझा कर बिखर गयीं। समयहीनता का यह मिथक फिर भी बरकरार रहा। नरीमन पाइंट से तीन बत्ती तक तीन किलोमीटर का यह सागर तट सिर्फ एक भूगोल नहीं है। वह शहर का निरा तथ्यात्मक इतिहास भी नहीं है। वह असंख्य किस्सों, किंवदन्तियों, दंतकथाओं, अफवाहों, सपनों-स्मृतियों, उपस्थितियों-अनुपस्थितियों, चाहतों और कामनाओं, कसक और वेदनाओं, घटनाओं और दुर्घटनाओं, सार्वजनिकताओं और निजताओं के अबूझ धागों से बुना हुआ एक विराट 'पब्लिक स्फीयर' है।

1960 की एक फिल्म थी 'कालाबाज़ार'। उसका वह अमर गीत 'रिमझिम के तराने लेकर आयी बरसात'। मैरिन ड्राइव था उस गीत के फिल्मांकन में। एक भीगती हुई शाम, एक प्रेमी युगल की सड़क पर दोबारा मुलाकात। उनके बीच एक शहर, खोया हुआ समय और पिछली तमाम स्मृतियां और बरसात थी। क्या गीत की उस मनस्थिति को कोई दूसरी जगह इस तरह से अर्थ दे सकती थी? इसी सड़क पर जॉनी वाकर पुरानी विक्टोरिया बग्घी चलाते हुए 'ए दिल, मुश्किल है जीना यहां' गाते हुए इस शहर के सारे अन्तर्विरोधों को एक जगह एक गाने में रख दे रहा है। इसी मैरिन ड्राइव की एक इमारत 'कृष्ण महल' की तल मंजिल पर बीते जमाने की उस दिलफरेब तारिका सुरैया ने अपनी जिंदगी के भयानक अकेलेपन को काटा होगा। देवानंद ने उसे अपने प्यार का इज़हार करते हुए अंगूठी पहनायी पर अपनी खूसट और

अड़ियल नानी की वज़ह से सुरैया एक दिन सड़क पार कर वह अंगूठी सामने फैले समुद्र में फेंक आयी। न सुरैया रही न देवानंद। और सुरैया का वह आखिरी गाना–

"ये कैसी अजब दास्तां हो गयी है

छुपाते छुपाते बयां हो गयी है"

हम कृष्ण महल के सामने एक डूबती हुई शाम में मैरिन ड्राइव की उस दीवार पर बैठते हैं और बीता हुआ वह समय हमें मिथकीय समय लगने लगता है। मशहूर और अज्ञात के बीच की सारी दूरियां मिट जाती हैं।

इसी मैरिन ड्राइव की दीवार पर एक घनघोर बरसात की तूफानी रात में बिन्दास पत्रकार शोभना भूटानी और उभरता हुआ अत्यंत प्रतिभाशाली फिल्म निर्देशक अवतार कौल जाने कैसे उफनते हुए समुद्र में गिर पड़े थे। अगली सुबह अवतार कौल को उसकी पहली फिल्म '27 डाउन' के लिये सर्वोत्तम फिल्म का राष्ट्रपति पुरस्कार घोषित हुआ और पिछली रात उन दोनों के शव समुद्र की लहरों पर तैर रहे थे। किस्से अरबों हैं जो एक सामूहिक अवचेतन में बसे रहते हैं।

दो रुपये की पुड़िया में मूंगफली खाता हुआ एक साधारण परिवार सड़क पार सामने की शानदार इमारतों को देखता है। पहले महायुद्ध के बाद 1920 के आसपास बनी होंगी ये 'आर्ट डेको' किस्म की इमारतें। उनमे रहने वाले लोग जैसे किसी दूसरे लोक के प्राणी हों। पुराने राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार, उद्योगपति, बड़े कारोबारी और मशहूर फिल्मी सितारे। रात को स्ट्रीट लैम्पों की दूधिया रोशनी में चमकती मणिमाला-सी एक अर्ध-गोलाकार सड़क। इसे बड़े गर्व के साथ 'क्वीन्स नैकलेस' कहा जाता है। महत्वपूर्ण बात यह कि मैरीन ड्राइव की दीवार पर बैठ कर मूंगफली खाते हुए उस बेहद साधारण परिवार का भी समुद्र, नीलिमा, विस्तार, हवाखोरी, डूबते सूरज, लहरों और दूर क्षितिज की अलौकिकता पर उतना ही हक है, जितना इन शानदार भव्य फ्लैटों में रहने वाले लोगों का। बल्कि ऐसे साधारण लोग इस रोमान को ज़्यादा अर्थपूर्ण इसलिये बना देते हैं कि यहां से जब वे उपनगरों में अपने कबूतरखानों की ओर लौटेंगे तो उनके जीवन में वही भीड़ भरी लोकल ट्रेनें और बसें होंगी, वही चिल्ल-पों, वही यांत्रिकता, वही विस्मृति। उन्होंने इस जगह पर आकर प्रकृति के एक असीम विस्तार को जिया, अपने भीतर की मनुष्यता और अपनी उदात्त को पुनर्जीवित किया और वे अमूर्त सुख से भरे हुए लौटे होंगे। वे एक सार्वजनिक समय की सामूहिकता में थे और फिर भी अपनी स्वायत्ता को संजोये हुए थे।

एक समय था जब इस मैरिन ड्राइव के अंतिम छोर पर न कोई पंचतारा होटल था, न एयर इंडिया की ऊंची अट्टालिका, न एनसीपीए। वह शहर का अंतिम छोर अपने सबसे नैसर्गिक रूप में वास्तव में अंतिम छोर था। एक पतला-सा फुटपाथ जाकर चुपचाप सागर की गोद में उतर जाता था। वहां एकान्त था, हरहराते समुद्र की आवाज़ और बेचैन लहरों के थपेड़ों से सनी गीली चट्टानें थीं और अंधकार में चमकते हुए असंख्य जुगनुओं की अलौकिकता थी। अपनी युवावस्था में हमने इस जादू को देखा था। हम 'बेस्ट' की 121 नम्बर की डबल डेकर बस पकड़ कर उसकी ऊपरी मंजिल पर बैठे हुए नरीमन पांइट से वालकेश्वर तक जाते थे–

क्षितिज, समुद्री हवाओं और लहरों से सरगोशियां करते हुए। हमारी उम्र बढ़ी और वह बस रूट भी नहीं रहा।

जीवन की इस ढलान पर आज स्व. निदा फाज़ली का एक शेर याद आ रहा है–

मेरे दिमाग में बेमानी उलझने हैं बहुत
मुझे उधर से बुलाना, जिधर न जाउं मैं

* * *

बुझ गयीं वे चिमनियां

कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद 1934 में जब मोहन भवनानी की फिल्म 'मिल मज़दूर' लिखने के लिये बम्बई आये थे तब उन्हें शायद अंदाज़ भी नहीं होगा कि जिस मिल मज़दूर की वे कहानी लिख रहे हैं, वह मज़दूर और वे तमाम कपड़ा मिलें, अगले पचास वर्षों में इस शहर में लगभग मिट जायेंगी। वे मिलें जिन्होंने 19वीं और 20वीं सदी में इस शहर में श्रम आधारित उत्पादन-संस्कृति की नींव रखी थी, एक औद्योगिक सर्वहारा को जन्म दिया था और बम्बई को बम्बई बनाया था।

मध्य बम्बई का वह इलाका जो कभी 'गिरणगांव' (मिलों का गांव) कहलाता था, जहां कभी 200 फीट ऊंची चिमनियों, मिलों के बजते हुए भोंपू, विशाल फाटक, कामगारों की भीड़, 24 घंटों का कामकाज, सांचों की अबाध घर्र घर्र, मजदूरों की रिहाइश वाली वे विशाल बस्तियां, पुरानी 'चालें', झुग्गियां और श्रमिकों की सामूहिकता थी। मिलों ने इस शहर के औद्योगिक ढांचे का कितनी तेजी से विकास किया यह इसी से पता चलता है कि पहली सूती वस्त्र मिल 'दि बम्बई स्पिनिंग एंड विविंग कंपनी' 1856 में ताड़देव में स्थापित हुई थी लेकिन अगले 5 दशकों में, अर्थात 19वीं सदी के अंत तक यहां निजी क्षेत्र में पूंजीपतियों द्वारा 136 मिलें स्थापित की जा चुकी थीं। 19वीं सदी के अंत तक ढाई लाख लोगों को, अर्थात शहर की कुल श्रम शक्ति के 30 प्रतिशत हिस्से को इन मिलों में रोज़गार मिला हुआ था। इन मिलों में काम के बदले अल्प वेतन, दैनिक मज़दूरी और तमाम बुनियादी सुविधाओं के अभाव के बावजूद देश के दूर दराज के इलाकों से प्रवासी मज़दूरों का भारी तादात में बम्बई आगमन हुआ था। मिलों के आसपास के इलाकों में मज़दूर बस्तियों और 'चालों' की एक खास संस्कृति और जीवन-शैली थी। एक-एक खोली में दस-दस लोगों का गुज़ारा। रात-पाली और दिन-पाली का काम। अलग-अलग प्रान्तों, भाषाओं, क्षेत्रीयताओं, संस्कृतियों, धर्मों, आस्थाओं और परम्पराओं से आये लोगों के बीच सर्वहारा की एक कोस्मॉपॉलिटन चेतना का विकास। मज़दूरों के बीच रेडिकल राजनीतिक चेतना वाली वामपंथी ट्रेड यूनियनों का उभरना, 20वीं सदी के शुरुआती दशकों में इन मज़दूर संगठनों का राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़ना। लाल झंडों, विशाल रैलियों, जुलूसों और हड़तालों का युग। इन्हीं मजदूर बस्तियों में सर्वहारा का एक सांस्कृतिक संसार भी विकसित हुआ था और प्रगतिशील कलाकारों की सांस्कृतिक टोलियों, थियेटर समूहों और अन्य प्रगतिशील कार्यकर्ताओं ने 1942 में 'इप्टा' की स्थापना

की थी। आज कम ही लोग जानते होंगे कि इस संस्था को 'इप्टा' नाम महान वैज्ञानिक होमी जहांगीर भाभा ने दिया था जो सर्वहारा के बीच जन नाट्य की अवधारणा को लेकर विख्यात फ्रेंच लेखक रोमा रोलां के विचारों से गहरे प्रभावित थे। मिल मज़दूरों के बीच सांस्कृतिक गतिविधियां चलाने में शाहिर अमर शेख, अण्णा भाऊ साठे, शाहिर साबले, ए.के. हंगल, बलराज साहनी, बिमल रॉय, ख्वाज़ा अहमद अब्बास, कैफी आज़मी, अली सरदार ज़ाफरी, साहिर लुधियानवी, शीला भाटिया, दीना पाठक, आर.एम. सिंह, डॉ. एस.सी. जोग, सुधी प्रधान, सलिल चौधरी और पं. रवि शंकर जैसी कितनी ही विभूतियों का आज सहज ही स्मरण हो आता है। लालबाग-परेल के कपड़ा मज़दूरों की व्यथाओं के बीच ही जन्म लेने वाले मराठी के प्रख्यात कवि नारायण सुर्वे ने गिरणगाँव के वामपंथी आंदोलन में सामाजिक प्रतिबद्धता का पाठ पढ़ा। प्रगतिशील चेतना की फिल्मों, नाटकों, मुशायरों, गायन-प्रस्तुतियों और चित्रकला की तमाम गतिविधियों को श्रमजीवी वर्ग का अपार जन-समर्थन मिला था।

किसी समय ये वस्त्र मिलें इस शहर के एक खास लैंडस्केप को रचती थीं। लेकिन वह युग विदा हुआ। लालबाग और परेल में सत्तर का दशक आते आते वामपंथी ट्रेड यूनियनें कमज़ोर पड़ने लगी थीं। विभिन्न राजनीतिक पार्टियों से समर्थित ट्रेड यूनियनों की आपसी उठापटक ने संगठित श्रम शक्ति को विभाजित कर दिया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व वाले गिरणी कामगार संघ के नेता कृष्णा देसाई की 1970 में लालबाग में सरेआम हत्या शहर की राजनीति में एक निर्णायक मोड़ था। श्रमिक संगठनों पर शिवसेना के आधिपत्य और नौकरियों में स्थानीय लोगों के अधिकार की मांग ने एक नयी तरह की राजनीति को जन्म दिया। इसके बाद 1982 में मज़दूर नेता डॉ. दत्ता सामन्त के नेतृत्व में लगभग एक वर्ष से अधिक समय तक चली मिल मज़दूरों की उस विफल हड़ताल ने जिसमें तीन लाख गिरणी कामगारों ने हिस्सा लिया था और शहर का समूचा कपड़ा उद्योग पूरी तरह से ठप हो गया था– कपड़ा मिलों के अवसान की भूमिका लिख दी। मिल मालिक अड़ियल बने रहे, दूसरी ओर श्रमिक संगठनों में आपसी राजनीति के चलते वह हड़ताल बिखर गयी। कामगारों को कुछ भी नहीं मिला। लाखों श्रमिक बेरोजगार हो गये, छितर गये। उनके घर-बार, गिरस्तियों और अगली पीढ़ियों का क्या हुआ यह एक खोज का विषय है। इसके बाद एक बदला हुआ समय था। 90 के दशक में ग्लोबलाइज़ेशन का आगमन होता है। यह मिलों के मॉल में बदलते जाने का दशक है। इन मिल मालिकों को अपनी ये मिलें हाथी दांत की मीनारें लगने लगीं। उन्हें इन मिलों की ज़मीन को बेचना या फिर अपनी इन मिलों को इस शहर से बाहर ले जाना ज़्यादा फायदे का सौदा लगने लगा। ये लोग अब अपना उत्पादन कम लागत पर बाहर असंगठित क्षेत्र की छोटी-छोटी पॉवर लूम यूनिटों के मार्फत करवाने लगे। संगठित श्रम शक्ति की प्रगतिशील चेतना को बाज़ार और मुनाफे की रणनीतियों, रीयल इस्टेट की आसमान छूती हुई कीमतों, भू माफियाओं, भवन-निर्माताओं, कानून विशेषज्ञों, संगठित अपराध नेटवर्क और राजनेताओं की आपसी सांठ-गांठ ने निगल लिया। समाजशास्त्र के अनेक विशेषज्ञ बीसवीं सदी के अंत को बम्बई में कपड़ा मिलों के अवसान, मीडिया, मनोरंजन की इकॉनॉमी, उपभोग की संस्कृति, बेदखली और विस्थापन, दाउद इब्राहिम और अरुण गवली जैसे अपराधी गिरोहों

की बढ़ती ताकत, सुपारी हत्याओं के दौर, गैंगवार और नागरिक जीवन में पेशेवर अपराधियों के खुले आगमन जैसे अलग अलग से बिखरे सूत्रों से जोड़ कर देखते हैं।

ऐसे किसी बड़े शहर में एक खो गये समय को याद करना महज रूमानी ढंग से अतीतजीवी होना नहीं है। नब्बे के दशक के बाद भायखला, ताड़देव, परेल, लालबाग, वर्ली, प्रभादेवी, महालक्ष्मी, नायगांव, रे रोड और शिवडी सभी जगहों की शक्ल तेजी से बदल रही है। कुछ जगहों पर मिलों के पुराने ढांचे भले ही अभी भी प्रेतों की तरह खड़े हों पर उनके चारों ओर अब एक नया समय है– आक्रामक डिजाइनों वाले शॉपिंग मॉल, बड़े बड़े ऑफिस कॉम्पलेक्स, पंचतारा होटल और गगनचुम्बी रिहाइशी टॉवर। लोअर परेल में जहां आज आलीशान पेनिन्सुला टॉवर खड़ा है, वहां कभी डॉन मिल हुआ करती थी। हाई स्ट्रीट फिनिक्स मॉल ने पुरानी फिनिक्स मिल को मिटा दिया है और उस मिल की पुरानी चिमनी को बड़े रंगारंग और भड़कीले तरीके से अपनी सजावट का हिस्सा बना लिया है। वह चिमनी शॉपिंग मॉल में अब एक 'फूहड़ मज़ाक' बनकर रह गयी है। यह हमारे इस स्मृतिवहीन समय का मूल चरित्र है। चीजों को उनके मूल अर्थ से विच्छिन्न कर उन्हें एक 'तमाशे' में बदल दिया जाता है, ठीक उसी तरह से जैसे फैशन की अति आधुनिकता को प्रदर्शित करता हुआ एक पॉप सिंगर घुटनों के पास से फटी हुई जीन्स पहन कर गाता है। शहर बदला है और इसी के साथ गुम हो गयी है मज़दूरों और कामगारों की एक समूची पीढ़ी, उनकी पहचान और संगठित श्रम संस्कृति का वह दौर। एक ऐसा दौर जिसमें मज़दूर– कवि नारायण सुर्वे ने कभी ये पंक्तियां लिखी थीं–

"तब चिपकाते रहते हैं पोस्टर
या बत्ती के नीचे बैठकर बहस करते हैं हम।
बड़े सुख के ये दिन
बिल्कुल आँच के पास की गरमाहट जैसे
असली ज़िन्दगी जीने का
अहसास दिलाने वाले सुनहले दिन"

❖

इल्या कामिंस्की का 'बहरा गणतंत्र'

अरुण जी

जाने-माने अमेरिकी कवि इल्या कामिंस्की का जन्म 1977 में सोवियत यूक्रेन के ओडेसा नामक शहर में हुआ था। 16 वर्ष की आयु में अपने परिवार के साथ उन्हें अमरीका में शरण लेनी पड़ी थी। 2019 में प्रकाशित **बहरा गणतंत्र** (डेफ रिपब्लिक) उनकी कविताओं की दूसरी पुस्तक है जिसे दुनिया भर में कई पुरस्कार एवं सम्मान मिल चुके हैं। 2019 में बीबीसी ने इल्या को 12 ऐसे कलाकारों की सूची में रखा था जिन्होंने दुनिया में बदलाव लाया है।

एक इंटरव्यू के दौरान इल्या बताते हैं कि 2004 में जब उनका पहला काव्यसंग्रह, डांसिंग इन ओडेसा, प्रकाशित हुआ था, तबतक यूक्रेन से अमरीका आए हुए उन्हें 11 साल हो चुके थे और उस काव्यसंग्रह में वो यूक्रेन के अपने अनुभवों को व्यक्त कर चुके थे।

उसके बाद वो एक ऐसे रचना संसार का सृजन करना चाहते थे जो यूक्रेन और अमरीका दोनों से बातें करे। दोनो देशों में व्याप्त हिंसा की सच्चाइयों को बाहर ला सके। राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ी हिंसा को उन्होंने बहुत करीब से देखा है, सोवियत यूक्रेन, वर्तमान यूक्रेन और अमरीका में भी। वो गोगोल, बैबेल, काफ्का जैसे पूर्वी यूरोप के महान रचनाकारों की परम्परा को ध्यान में रखकर अपनी कविताओं में एक काल्पनिक लोक की रचना करना चाहते थे। इसी पृष्ठभूमि में डेफ रिपब्लिक का निर्माण हुआ।

'डेफ रिपब्लिक' [बहरा गणतंत्र (2019)] युद्ध की विभीषिका और उसके दुष्प्रभाव पर एक गहरी टिप्पणी है। वैसे तो इस काव्यसंग्रह में कवि एक काल्पनिक लोक में हुए सैनिकों की क्रूरता और उसके विरोध की कहानी कहता है। पर यूक्रेन में चल रहे युद्ध के मद्देनजर कल्पना और वास्तविकता की ये दूरी अब मिटती दिख रही है। इस सम्बन्ध में इल्या ने न्यूयॉर्क के इन्टेलिजेन्सर नामक एक मैग्ज़ीन को दिए गए हाल के एक इन्टरव्यू में कहा है कि वो 'युद्ध कभी खत्म ही नहीं हुआ'।

जब वो दूसरों के घरों पे बम गिरा रहे थे, हमने
उसका विरोध किया
पर वो काफी नहीं था

'कला जीवन का अनुकरण करती है' पर इसके विपरीत इल्या कामिंस्की का 'बहरा गणतंत्र' इस बात का सबूत है कि जीवन भी कला का अनुकरण कर सकता है। ऊपरोक्त पंक्तियां उसकी पहली कविता, *युद्ध के दौरान हम खुशीपूर्वक रह रहे थे,* का प्रारंभिक अंश है। रूस-यूक्रेन युद्ध के इन दिनों में यह कविता लोकप्रिय हो रही है।

डेफ रिपब्लिक एक समकालीन महाकाव्य है जो वैसेन्का नामक एक काल्पनिक लोक, एक गणतंत्र, की कहानी कहता है। इस गणतंत्र का क्या स्वरूप है और कवि ने इसे 'डेफ' (बहरा) विशेषण से क्यों सुशोभित किया है? इन सारे प्रश्नों के उत्तर इन कविताओं में मिलते हैं। संग्रह की पहली कविता, दो खंडों में विभक्त इस काव्यसंग्रह की भूमिका है। जिसके पहले खंड की शुरुआत *गोलीबारी* नामक कविता की इन पंक्तियों से होती है :

रंगमंच है हमारा ये देश।
यहां सैनिक जब शहर में करते हैं प्रवेश
लोगों के जमा होने पर तब लगता है निषेध।

पर आज शहर के मुख्य चौक पर
जब बजती है
सौन्या और ऐलफौन्सो की
थिरकती कठपुतलियों की धुन
उनके मधुर संगीत को सुन
पड़ोसी सब निकल पड़ते हैं ---

इस कविता की पहली पंक्ति में रंगमंच का प्रयोग काफी दिलचस्प है। पाठकों के लिए रंगमंच के कम-से-कम दो मायने स्पष्ट हैं। पहला रंगमंच है वैसेन्का, वो शहर, जहां सैनिक रोज-ब-रोज अपनी क्रूरता का प्रदर्शन करते हैं। और ठीक उसके विपरीत दूसरा रंगमंच है शहर का वो मुख्य चौक जहां एक नवदंपति, सौन्या और ऐलफौन्सो, कठपुतलियों का प्रदर्शन कर लोगों का मनोरंजन करते हैं। पहला रंगमंच पीड़ा का प्रतीक है और दूसरा आनन्द का। यातना और भय के उस माहौल में सौन्या और ऐलफौन्सो की कठपुतलियां लोगों के लिए खुशियों की खिड़की खोलती हैं। और लोग उन्हें देखने के लिए निकल पड़ते हैं।

दर्शक जब कठपुतलियों का नाच देखने में मशगूल होते हैं तो अचानक आर्मी की जीप से एक हवलदार उतरता है और सभी लोगों को वहां से जाने का आदेश देता है। दर्शकों में बैठा एक बधिर बालक पेट्या हवलदार को देखकर हंसता है और उस पर थूक देता है। पेट्या को सुनाई नहीं पड़ता और हवलदार की सत्ता से वो अनजान है। पर क्या वो हवलदार, गणतंत्र का एक प्रतिनिधि, जिसने पेट्या की हत्या की, बहरा नहीं है? कविता उस गणतंत्र की श्रवण शक्ति पर भी सवाल उठाती है।

यहां इल्या ने बहरापन को एक विडम्बना के रूपक के तौर पर इस्तेमाल किया है। पेट्या के संदर्भ में इसका अर्थ अगर शाब्दिक है तो गणतंत्र के संदर्भ में साहित्यिक। एक बालक के

बहरेपन से बड़ी सच्चाई है गणतंत्र का बहरापन।

इस घटना का सौन्या पर गहरा आघात पहुंचता है। पेट्या उसका चचेरा भाई है :

सौन्या उसके ललाट को चूमती है
उसकी हृदयविदारक चीख से
आसमान में सुराख हो जाता है
पार्क के बेंच हिलने लगते हैं
बरामदे की बत्तियां टिमटिमाने लगती हैं

सौन्या के खुले मुंह में
दिखाई पड़ती है हमें
पूरे देश की नग्नता...

दर्शकों के समक्ष हुई इस दर्दनाक घटना से कहानी एक नाटकीय मोड़ लेती है। जो लोग अभी तक सैनिकों के अत्याचार को चुपचाप सहते जा रहे थे, एक निर्दोष बालक की निर्मम हत्या से उनके सब्र का बांध टूट पड़ता है। और उनके अंदर सुलग रही विरोध की चिंगारी भड़क उठती है। वो हथियारबंद सैनिकों के खिलाफ विरोध का एक नायाब तरीका अख्तियार करते हैं :

अगली सुबह हमारा देश
जब सोकर उठा तब
उसने सैनिकों को सुनने से
इंकार कर दिया

अगली सुबह से वैसेन्का के नागरिक सैनिकों की बातों को सुनना बंद कर देते हैं। उनसे न कोई बातचीत, न मेलजोल और न ही किसी भी प्रकार का आमदरफ्त। अभिवादन का आदान प्रदान बंद। सैनिकों के लिए बेकरी के दरवाजे भी बंद कर दिए जाते हैं। लोग आपस में सांकेतिक भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। और बधिरता को विरोध का हथियार बना लेते हैं। 'तुम्हारी बात कोई नहीं सुनता', 'हम बहरे हैं': सैनिकों को पोस्टर, दीवार वगैरह पर लिखकर या सांकेतिक भाषा में संदेश दिए जाते हैं। धीरे-धीरे बहरापन एक विद्रोह का रूप धारण कर लेता है।

शाम होते होते शहर में गिरफ्तारियां होने लगती हैं। सैनिक महिलाओं पर गोलियां चलाते हैं और गली गली में श्रवण जांच चौकी बिठाकर घोषणा करते हैं कि :

बहरापन एक छुआछूत की बीमारी है
अपनी सुरक्षा के लिए संक्रमित क्षेत्रों के
सभी लोग 24 घंटे के अंदर
जांच के लिए कर दें यहां आत्मसमर्पण

कहानी में बधिरता को अन्याय के खिलाफ हथियार के रूप में इस्तेमाल का एक अनूठा प्रयोग है। और ऐसा केवल इल्या कामिंस्की ही कर सकते हैं। क्योंकि उन्होंने इसे जिया है। करीब चार साल की उम्र में किसी बीमारी के कारण उनके सुनने की शक्ति क्षीण हो गई थी। अमरीका जाने के पहले, सोलह वर्ष की आयु तक, वो पूर्ण बधिर थे। इस अनुभव का उन्होंने कहानी में बखूबी इस्तेमाल किया है। कविताओं की जरूरत के अनुसार पुस्तक में सांकेतिक भाषा के अलग अलग रेखाचित्रों का भी प्रयोग है।

बीसवीं सदी में महात्मा गांधी ने ये सिद्ध कर दिखाया था कि अहिंसा और असहयोग के बल पर कैसे एक ताकतवर साम्राज्य को झुकने पर मजबूर किया जा सकता है। इल्या द्वारा बधिरता और असहयोग के इस्तेमाल में भी गांधी के असहयोग आंदोलन की झलक मिलती है।

डेफ रिपब्लिक अगर एक सैनिक शासन की क्रूरता और उसके खिलाफ विरोध की कहानी है, तो ये एक नवदंपति के दाम्पत्य और उनके शिशु के जन्म और लालनपालन की भी कहानी है। इन कहानियों के मुख्य पात्र हैं सौन्या और ऐलफौन्सो। सार्वजनिक जीवन में वे शासन के खिलाफ विरोध का नेतृत्व करते हैं। लोगों को सांकेतिक भाषा में संवाद करना सिखाते हैं। और निजी जीवन में उनका प्रणय, सौन्या का गर्भधारण, शिशु का जन्म और उसकी देखरेख, सब साथ साथ चलता है। शहर की रोज ब रोज बिगड़ती स्थिति के बावजूद घर के अन्दर उनकी क्रियाएं सामान्य हैं। इस विरोधाभास को कवि ने अपनी अलग अलग कविताओं में काफी सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। नीचे उद्धरित कविता इस संदर्भ में प्रासंगिक है। ये दर्शाती है कि एक गणतंत्र कैसे सामान्य नागरिक की निजी जिंदगी को एक पल में तहस नहस कर सकता है :

सुबह
अंदर, सौन्या दूध पिला रही है बच्ची को
जिसका नाम है अनुष्का
जाग रहा ऐलफौन्सो
अपनी पत्नी के स्तन को छूकर
शाम
चार जीप गली के नुक्कड़ पर रुकती है:
सौन्या को वे ले जाते हैं मुझसे चुराकर
और अनुष्का को रोती हुई छोड़कर
जीप का कारवां घड़घड़ाता हुआ
तेजी से निकल जाता है

इस कविता के पहले भाग में प्रेम है, खुशी है, सुख है। दूसरे में घृणा, पीड़ा और दुख। कवि ने दोनों के विरोधाभास का सुन्दर चित्रण किया है। इसी से जुड़े एक प्रश्न के जवाब में इल्या बताते हैं कि संकट के समय में भी लोग प्रेम करते हैं, बच्चे पैदा करते हैं, बुजुर्ग माता-

पिता का ख्याल रखते हैं इत्यादि। हिंसा और आतंक के माहौल में प्रेम, वात्सल्य जैसी क्रियाएं निलंबित नहीं होती हैं। ऐसा नहीं है कि लोग प्रेम शुरू करने के लिए हिंसा के बंद होने का इंतजार करेंगे। दुख और सुख दोनों साथ-साथ चलते हैं। उन दोनों को हम अलग नहीं कर सकते।

बहरहाल कहानी में आगे सौन्या को मुख्य चौक पर गोलियों से भून दिया जाता है। इसके बाद ऐलफौन्सो का भी यही हस्र होता है। उनकी बेटी, अनुष्का, को सैनिक लेकर चले जाते हैं। और इसी के साथ काव्यसंग्रह के पहले खंड की समाप्ति होती है।

दूसरे खंड में विद्रोह की बागडोर थियेटर की मालकिन मौमा गल्या के हाथों में आ जाती है। वो सैनिकों को रिझाकर, उनसे यौन संबंध बनाकर उनसे नजदीकी रिश्ता स्थापित करती है। फिर एक दिन सैनिकों को झांसा देकर सौन्या और ऐलफौन्सो की बेटी अनुष्का को उनके चंगुल से छुड़ा ले जाती है और अपने घर में उसका पूरा ख्याल रखती है। दूसरी ओर विद्रोह का नेतृत्व करते हुए थियेटर की अपनी सहकर्मियों की मदद से एक-एक करके कई सैनिकों की हत्या करवाती है और थियेटर के पिछवाड़े में उन्हें दफनवा देती है। इन दोनों जिम्मेवारियों को मौमा गल्या बखूबी निभाती है।

कुछ समय बाद सैनिकों को इस बात का पता चल जाता है और गल्या समेत सभी थियेटर कर्मियों को गिरफ्तार कर लिया जाता है। इस घटना के होने तक वैसेन्का शहर के लोग थक चुके थे। डर भी गए थे। उन्होंने सैनिक सरकार की सत्ता को स्वीकार कर लिया था। विरोध करना छोड़ दिया था। अचरज की बात ये है कि उसके बाद कई लोग मौमा गल्या से घृणा करने लगते हैं।

डेफ रिपब्लिक की पहली कविता, *युद्ध के दौरान हम खुशी पूर्वक जी रहे थे,* एक प्रस्तावना के तौर पर वर्तमान काल में शुरू होती है। इसका कथावाचक भूतकाल में हुए एक युद्ध, उससे जुड़ी हिंसा और उसके खिलाफ हुए अपर्याप्त विरोध को अफसोस के साथ याद करता है। काव्यसंग्रह के दोनों खंडों में एक काल्पनिक लोक में हुए उसी युद्ध की कहानी को कवि कविताओं के माध्यम से एक दृष्टांत की तरह पेश करते हैं। काव्यसंग्रह की अंतिम कविता, शांति के समय में, इसका उपसंहार है, जो देश और दुनिया में प्रचलित वर्तमान गणतांत्रिक व्यवस्था से जुड़ी हिंसा पर एक गहरा प्रहार है। अंतिम कविता, *शांति के समय में,* की अंतिम पंक्तियां आजकल यूक्रेन में हो रहे युद्ध के संदर्भ में काफी उपयुक्त हैं। कवि का संदेश बिल्कुल साफ और स्पष्ट है :

ये शांति, अमन-चैन का समय है
मैं गोलियों की आवाज नहीं सुनता
मैं तो सुनता हूं आवाज चिड़ियों के चहचहाने की
उपनगरों के पिछवाड़े में
कितना साफ है आसमान
कितना साफ है आसमान (माफ करें) कितना साफ।

बहरा गणतंत्र : कुछ कविताएं

(1)

गोलीबारी

रंगमंच है हमारा ये देश
यहां सैनिक जब शहर में करते हैं प्रवेश
लोगों के जमा होने पर तब लगता है निषेध

पर आज शहर के मुख्य चौक पर
जब बजती है
सौन्या और ऐलफौन्सो की
थिरकती कठपुतलियों की धुन
उनके मधुर संगीत को सुन
पड़ोसी सब निकल पड़ते हैं
हममें से कुछ तो पेड़ पर चढ़ते हैं
और कुछ टेलीफोन के खंभों और
बेंचों के पीछे छुपकर झांकने लगते हैं

आगे की पंक्ति में बैठा
एक बधिर लड़का, पेट्या,
जोर से छींकता है और
एक नन्हीं कठपुतली
चीखती हुई गिर पड़ती है
फिर तुरंत उठकर
वो फुंफकारती है और
जोर-जोर से हंस रहे
दर्शकों की ओर
अपना मुक्का दिखाती है

तभी एक आर्मी की जीप
अचानक
चौक पर आकर रुकती है
जीप से एक हवलदार उतरकर

अपनी कड़क आवाज में चिल्लाता है

"हटो सब, भागो यहां से"

"हटो सब, भागो यहां से"
नन्ही कठपुतली नकल करती है अपनी
पतली आवाज को नाक से निकालकर

सुनकर हो जाते हैं हम सब स्तब्ध
पर पेट्या खी-खी करके हंसने लगता है
उसके मुंह पर कोई उंगली रखता है
पर तभी हवलदार
उसकी ओर उंगली उठाकर चिल्लाता है:

तुम!

तुम! नन्ही कठपुतली भी
अपनी महीन आवाज में उसकी नकल उतारती है
सौन्या अपनी कठपुतली को देखती है
कठपुतली हवलदार को
और हवलदार सौन्या और ऐलफौन्सो को
हम सब देखते हैं पेट्या को
जो थोड़ा पीछे झुककर
अपने मुंह में थूक भरकर
हवलदार के मुंह पर जोर से दे मारता है
हम उस आवाज को नहीं सुन पाते हैं
जिसे सुनकर पास के तालाब से
बगुले फड़फड़ाकर उड़ जाते हैं

(2)

सैनिकों के जाने के बाद

हम चौदह लोग
उनमें से ज्यादातर अजनबी
देखते हैं कि
सौन्या नीचे झुकती है

पेट्या के पास
जिसे गोली मारी गई थी
बीच सड़क पर।
वो उठाती है उसके
गिरे हुए चश्मे को
जो अभी भी चमक रहा है
दो सिक्कों की तरह
उसकी नाक पर
टिकाती है
गौर कीजिए
पूरे माहौल में कितनी बेचैनी है

बर्फ गिर रही है
कुत्ते दौड़ रहे हैं गली में इस तरह
मानो कोई मेडिकल इमरजेंसी हो

हम चौदह लोग देखते हैं कि
सौन्या उसके ललाट को चूमती है
उसकी हृदयविदारक चीख से
आसमान में सुराख हो जाता है
पार्क के बेंच हिलने लगते हैं
बरामदे की बत्तियां टिमटिमाने लगती हैं

सौन्या के खुले मुंह में
दिखाई पड़ती है हमें
पूरे देश की नग्नता

वो निढ़ाल हो जाती है
सड़क के बीचों-बीच उस छोटे
उंघते हुए बर्फ के पुतले के निकट
क्योंकि उसी के पेट को पकड़
ये देश चल रहा है।

(3)

बधिरता, एक विद्रोह

अगली सुबह हमारा देश
जब सोकर उठा तब
उसने सैनिकों को सुनने से
इंकार कर दिया

पेट्या के नाम पर हमने
इंकार कर दिया

सुबह छह बजे
गलियों में जब सैनिक लड़कियों का
अभिवादन करते हैं तो
वे अपने कानों की ओर इशारा कर
कन्नी काट जाती हैं

आठ बजे
बेकरी का दरवाजा
सैनिक इवानऔफ के मुंह पर ही
बंद कर दिया जाता है
जबकि वो उनका
सबसे अच्छा ग्राहक है

दस बजे
मौमा गल्या
सैनिकों के बैरक के गेट पर
लिखती हैंः
तुम्हारी बात कोई नहीं सुनता

ग्यारह बजे तक
गिरफ्तारियां शुरू हो जाती हैं

ऐसा नहीं है कि हमारे कान अब
होने लगे हैं निर्बल

पर कुछ है हमारे अंदर
जिससे हम होने लगे हैं
और भी प्रबल

कर्फ्यू लगने के बाद
गिरफ्तार लोगों के परिवार वाले
अपने घरों के बाहर खिड़कियों पर
घरों में बनी कठपुतलियों को लटकाते हैं

इन सुनसान गलियों की शांति में
केवल डोरियों के चटकने और
मकानों के दरवाजों पर
लकड़ियों के मुक्कों और लातों के
पटकने की आवाज सुनाई पड़ती है

शहर के कान अब सुन्न हो चले हैं

(4)

फिर भी, रातों में कभी कभी

हमारे देश ने हथियार डाल दिए

सालों बाद, कुछ लोग कहेंगे कि
ऐसा कुछ नहीं हुआ था
दुकानें खुली थीं
हम खुश थे और
पार्क में हम कठपुतलियों का नृत्य देखते थे

पर फिर भी, रातों में कभी कभी
नगरवासी घरों की बत्तियों को धीमा कर
अपने बच्चों को संकेत की भाषा सिखाएंगे
हमारा देश एक रंगमंच हैः
जहां गश्ती दल गलियों से जब गुजरते हैं तो
हम अपने हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं
डरो मत, एक बच्चा सांकेतिक भाषा में
बताता है एक पेड़ को, एक दरवाजे को

गश्ती दल जब चलते हैं
तो सड़कें वीरान हो जाती हैं
हवा भी लापता, केवल रस्सियों की चरमराहट और
दीवारों पर काठ के मुक्कों की खटखटाहट को छोड़कर

(5)

ये शांति, अमन-चैन का समय है

सुनो सुनो, ओ दुनिया के लोगों,
लगभग चालीस साल से
मैं एक शांतिप्रिय देश में रहता हूं

देखता हूं यहां पड़ोसियों को
अपने फोन को खोलकर देखते हुए –

एक पुलिसवाले को एक आदमी से
ड्राइविंग लाइसेंस मांगते हुए
और जबतक वो आदमी अपना बटुआ निकाले
उसे गोली मारते हुए
उसकी गाड़ी की खिड़की से
हां, उसे गोली मारते हुए –

शांतिप्रिय है ये देश हमारा

पॉकेट में फोन डालकर हम चल पड़ते हैं
डेंटिस्ट के यहां
बच्चों को स्कूल से लाने
शैम्पू खरीदने
बेसिल[1] खरीदने

ऐसा है ये देश हमारा
जहां पुलिस की गोली से मृत एक बच्चा
घंटों इंतजार में रहता है फुटपाथ पर पड़ा

देखते हैं हम उसके खुले मुंह में

सम्पूर्ण राष्ट्र की नग्नता

हम देखते हैं, वो देखते हैं
हम सब देखते हैं

बच्चे का शव फुटपाथ पर है पड़ा
ठीक एक बच्चे के शव की तरह

शांतिप्रिय है ये देश हमारा

कतरती है ये नागरिकों के तन को,
अनायास, जैसे राष्ट्रपति की पत्नी
अपने पैर के नाखून को कतरती है

सच में हम सब को
कितना परिश्रम करना पड़ता है
डेंटिस्ट से एप्वान्टमेंट लेने के लिए
ये याद रखने के लिए कि कैसे बनते हैं
गर्मियों के सलादः बेसिल, टमाटर
आहा टमाटर! क्या स्वाद है!
थोड़ा नमक भी डालकर

ये शांति, अमन-चैन का समय है

मैं गोलियों की आवाज नहीं सुनता
मैं तो सुनता हूं आवाज चिड़ियों के चहचहाने की
उपनगरों के पिछवाड़े में
कितना साफ है आसमान
कितना साफ है आसमान (माफ करें) कितना साफ।

काव्यानुवाद : अरुण जी

❖

जोशना बैनर्जी आडवानी

जोशना प्रयोगधर्मी कवयित्री हैं। भाषा और कथ्य की प्रस्तुति के स्तर पर उनके प्रयोग तेजी से हिन्दी जगत का ध्यान खींच रहे।

चिड़ियाँ निकट नहीं आती....

यथासाध्य प्रयास करती हूँ कि
दुलारूँ उसे
मानव देह से निकलती पाखंड गंध
चिन्हती है
मेरे दूर जाते ही दाना चुगती है
ये कपट मुझसे सीखा है उसने

मेरे पास दाना है, कपट है
चिड़ियाँ नहीं

चिड़ियाँ मेरा दाना चुग लेती है
मैं नहीं चुग पाती चिड़ियाँ का सामीप्य,
चिड़ियाँ का दुलार
चिड़ियाँ का प्रेम

निष्ठुर लड़की....

उसने अँधेरे से घुप्प लिया
बुतों से छीना वधस्थानों का इतिहास
गुम्बदों से जाना चिड़ियों का विवेक
बिगुल से सीखती रही अभिनय के नुस्खे
कर्फ्यू से ले ली मूर्खों की उक्तियाँ
एकांत में कविता लिखी
वह बंदूक से नहीं मरेगी

कविता हलक से ठाँय करती हुई
एक दिन उड़ जाने का अभिनय करेगी
और सीखेगी कि
हर तिरस्कार के बाद गिरा आखिरी आँसू
पहले आँसू के लिए
पुरस्कार है....
हर पुरस्कार के बाद बजी
पहली ताली
आखिरी ताली के लिए
तिरस्कार है

मैं अपनी ही शवयात्रा में चली जा रही हूँ....

लोग रोग से मरते हैं
मर जाते हैं भूख से
महामारी, गोली, बारूद से मरते हैं
कभी कभी पैसों की कमी
से भी मर ही जाते हैं
युद्ध और ख़ुदखुशी से मरते हैं
कोई कोई दुःख भी प्राण ले ही लेता है
मर जाते हैं सदमे से

मेरी मृत्यु तुम्हारी ऊब से हो चुकी है
मैं अपनी ही शव यात्रा में चली जा रही हूँ

बोझिल मन....

मतिमंदता इतनी थी कि
बुरांश गुलाब दिखता रहा

ताप इतना था कि
हथेली पर ठहरा आँसू
शीतलता देता रहा

कोलाहल इतना था कि
एक दबी हुई अधमरी इच्छा

अनुरागिनी लगी

समय इतना कम था कि
पंखे से फड़फड़ाता किताब
का पन्ना देवदूत लगा

मैं एकांत के तारूण्य में जमी हुई हूँ....

जिया बहुत कम कम
हाथ ख़ीच ख़ीच कर
अधजिया कभीकभार
एक कविता लिखने से ठीक पहले
अनजिया अधिक ही
अन्यमनस्क बनी रही
अज्ञात रही
सांसों के अलावा कुछ ख़ीच ना सकी

समय को बलवान मुझ विस्मयविमूढ़ की
कमज़ोरी ने बनाया
मेरी बिन ब्याही इच्छाओं पर
एकांत का कौमार्य गिरता रहा
गिरता रहा रक्तचाप का संतुलन
मैं नंगे पैर शहर में दवाई
के लिए दौड़ लगाती हूँ
रास्ते में एक गरीब बच्चे के मिलने पर
उसकी हथेली से चमाचम भविष्य निकालती हूँ

मुझे गुहाभिलेखों के समीप ढूँढना
मैं एकांत के तारूण्य में
जमी हुई हूँ

आक....

प्रसव के समय मेरे पास कोई ना था

1. सलाद में डालने के लिए हरी पत्ती

गर्भ को मीठा, खट्टा, तीखा कोई स्वाद ना मिला
कोई दाई, कोई वैद्य, कोई अस्पताल ना मिला

दो आत्माओं के मिलन से उभरे गर्भ ने
एक कविता जनी
मेरी आत्मा एक आक की भाँति
इस कविता को दूध देगी

ये कविता कभी नहीं कहेगी
कि तुम इसके पिता हो....

अक्सरहाँ कम चीज़ों में गुज़ारा किया...

कम हवा वाली साईकिल पर ही सफर किया
कम फूली रोटियाँ ही थाली में मिलीं
कम रोशनी वाले बल्ब में अंधेरे काटे
अपने मन का सबसे कम हिस्सा दिया ईश्वर को
जनशून्य जगह पर बैठकर कल्पनाएं कीं

उत्कट इच्छाओं ने जब जब झिंझोड़ा
कम समय में ही तुमसे मनभर बातें की

ओक भर पानी पिया
अभाव में जीवन जिया
तुम्हारी कविताओं को तीर्थ माना
कम कम जीवन जिया
बचाया तुम्हें ज़्यादा

मुझे पवित्र करो कल्लोलिनी की तरह....

मेरी आँखों में झोंक दी गई हैं
एकादशियाँ और अमावस
हे समय
मुझे मूर्छित होने की कला सिखाओ

मेरे ओठों ने वर्षों से बोझ उठा रखा है
ना मुस्कुरा पाने के मौसमों का

हे समय
काट लो मेरे ओठ प्रेयस की तरह

मुझे निकाला गया है शादीघर से
अपशकुन की तरह
हे समय
मुझे पवित्र करो कल्लोलिनी की तरह

धाँस....

झर रहा था झरना
धरती को नुकसान पहुँचाये बिना
बह रहा था पानी
पहाड़ों को नुकसान पहुँचाये बिना
फट रहा था बादल
आकाश को नुकसान पहुँचाये बिना

तुम छू रहे थे मुझे
पहुँचा रहे थे नुकसान

चिड़ियाँ उड़ रही थी आकाश में
आकाश को नुकसान पहुँचाये बिना
तितलियाँ पी रही थीं फ़ूलों का रस
फ़ूलों को नुकसान पहुँचाये बिना

तुम कर रहे थे प्रेम
पहुँचा रहे थे नुकसान

इस नुकसान की धाँस ने
जकड़ा है मेरा जीवन

एक काली दोपहर में....

सिंहासन पर बैठे देव
एक काली दोपहर में
देख रहे हैं पृथ्वी पर लेटी स्त्री को

देख रहे हैं उसकी लाज, उसके लांछन, उसकी अनझपकी आँखें
देख रहे हैं उसकी छाती में धँसा मौन
उसके चूल्हे की राख
उसके कटे तलवे
उसका धारीदार पेट
उसके लटके स्तन
देख रहे हैं
उसकी टूटी चीज़ें
उसकी अधूरी प्रेम कहानी
उसकी अस्वीकृतियाँ
उसकी ओझल धवलिमा

सिंहासन पर बैठे देव
नहीं देख पा रहे एक स्त्री की मुमूर्षा

❖

आदर्श भूषण

पारंपरिक भाषा के शब्दों को नये अर्थ सौंपने की सफल कोशिश आदर्श के यहां दिखती है।

विद्रोह

आज जब सारे पत्ते झर गए हैं
देखो! पेड़ क्या कर रहा है —
प्रपर्ण खड़ा है
जिस भेष में
वही तो है जिसे तुम अपनी भाषा में
प्रतीक्षा लिखते हो

आज जब नीहार पाले में
जम रहे हैं झील और ताल
देखो! पानी क्या कर रहा है —
जड़वत टिका है
जिस स्थावर आयतन में
वही तो है जिसे तुम अपनी भाषा में
संयम लिखते हो

आज जब गिर रहा है
पारे पर तापमान
देखो! आग क्या कर रही है
ठिठुरते हाथों पर
उड़ेल कर एक धुंधला ग्रीष्म
तुम्हारी भाषा में —
लिख रही है विद्रोह

एक नए वसंत को पार करना होगा

पूरा पतझड़

झील को यदि बचानी हैं मछलियां
तो जमाना होगा अपना वक्ष
पत्थर करनी होंगी चेष्टाएँ अपनी

एक नए दिन के लिए
झेलने होंगे कई–कई रतजगे
हाथों को हाथों के बीच
बचानी होगी आग थोड़ी बहुत।

युयुत्सा

मोड़ो दिशाओं से अपना रथ
समेटो प्रत्यंचा अपनी
फेरो आयुधों पर पानी
उतारो फरेरें

एक न होने वाले विस्फोट की
उजड्ड ध्वनि से डरो
भीतियों को करो स्वीकार
तुरगों को दो विश्राम
यह नहीं है समय युद्ध का

अपेक्षाओं से रहोगे निरुत्तर
याचना प्रौढ़ करती जाएगी
मेरुदंड की अड़ी सीध

युद्ध
मृत्यु देंगे
नहीं देंगे उत्तर

किस बिम्ब को मान लिया है अर्च्य
कौन दे रहा युयुत्सा
इतनी विपाक कैसे हुई घृणा

ओ अभागे!
युद्ध के बीच खड़ा ईश्वर भी
हिंसा के उपदेश ही देता है।

अकाल–पर्व

हो सकता है कि
हम अलग–अलग जगहों पर
एक दूसरे की प्रतीक्षा करते जीवन के सारे वर्ष पार कर जाएं
और कभी न मिलें

यह भी संभव है कि
हम मिले हों प्रतीक्षा की इति से कुछ ही क्षण पहले
लेकिन चेहरों की इतनी निकटता का त्रास
हमें एक वियोगी अज्ञातवास की यातना की ओर ले जाए
और सामने होकर भी हम एक दूसरे के स्पर्श को तरसें

होने को तो यह भी हो सकता है कि
कल्पनाओं में तुम सदा रची–बसी रहो
और भौतिकता में तुम्हें ढूँढता हुआ
नापता रहूँ शहर–शहर
गाँव–गाँव
नदी, घाटी, पहाड़, सड़क
लेकिन जब लौटूँ एक हारी हुई जिजीविषा से आपन्न
मिलो किसी सूचना की तरह
या किसी धूल खाए पोस्टकार्ड पर एक मिटती हुई तारीख़ की मानिंद

या फिर यह कि
तुम्हें लिखता रहूँ –
कविता दर कविता
और तुम मिलती रहो ऐसे
जैसे यही हो तुम्हारे होने की जगह

जो भी हो

तुम्हारे होने की संभावनाओं
और तुमसे मिलने–बिछड़ने के कल्पबिम्बों ने ही
मुझे जीवन के अकाल–पर्व में भी बचाए रखा

वह अकाल–पर्व
जिसमें विरह की सारी ऋतुएँ बीतती हैं
एक दैन्य एकांत कई–कई प्रकाश–वर्षों में फैलता मालूम पड़ता है
विहान के लिए आँखें अंधी हो जाती हैं
और रात भर पीड़ झनझनाती है झींगुरों की आवाज़ में
हो सकता है कि
यह पहले भी हुआ हो
और होता रहा हो
हम मिले हों और मिलते रहे हों

या यह कि
अभी शेष है मिलना
यह जो घट रहा है ठीक अभी
मिलने से पहले का शेष है।

पेपरबोट

तुम्हारा हृदय
उदासियों की तरलता में
बहती हुई एक नदी है
जिसमें मैं किसी पेपरबोट-सा
असंग बहा जा रहा हूँ

तली का खुरदुरा कागज़
गीलेपन की भाषा में
काठ होने के स्वप्न देखता है

काठ का सपना
काठ की ठकठक में
काठ जैसा बजता हुआ

देह की मिट्टी के भीतर बहती हुई
सदानीरा की सतह पर
बहता हुआ वह काठ का सपना
कागज़ से मिट्टी और मिट्टी से काठ होता हुआ

उदासी के हिमखंडों के महाशैल के ऊपर
रीढ़ की ओर से वह कौन-सा सूर्य उगा होगा
अस्त होते हुए उसकी गति में
पृथ्वी ने अपनी धुरी पर कैसे उगाया होगा
मनुष्यों और वनस्पतियों के बीच का जंगम उजाड़

यह नदी तरल से पहले ठोस रही होगी
उसमें नहीं रहे होंगे द्वार
मौन की जड़ता अवश्य रही होगी
नहीं रहा होगा निर्विचार पूर्वग्रह
उर्ध्व से समतल की वर्जनाओं को पोसता

क्षीण होने की दिशा में
ठोस बहते हैं
पिघल-पिघल कर जैसे
विचार पिघलते हैं
भाषा के प्राकट्य की ओर
महादि से महांतक के बीच

एक काठ बहता है
उसी धारा की तरलता में
कविता बनकर
निःस्वप्न

काठ के सपने में
काठ की ठकठक की तरह
काठ जैसा बजता हुआ

बहता हुआ वह काठ का सपना
कागज़ से मिट्टी और मिट्टी से काठ होता हुआ।

अभिनेय

जीवन के अभिनय में
मुझे कवि होना था
कवि होने के अभिनय में जीवन कहाँ गया?
कवि होते–होते की निःसीम चेष्टाओं में
मैं वह सिरफिरा आदमी हो गया जिसकी सिगरेट के छल्लों के बीचोबीच से दुनिया की हवालिया आबादी ग़ायब हो चुकी है
अब वहाँ बस एक उलीचा हुआ नाला है जिसकी गंध नाक में दोफाड़ घुसती है
पछीटे हुए कुछ कपड़े हैं जिनके नीचे से अलगनी का तार खींचकर उन्हें हवा में वैसे ही छोड़ दिया गया है

वह आदमी जिसके अभिनय में
ठीक-ठीक मैं कवि नहीं हो पा रहा
और वह कवि जिसके अभिनय में
मैं ठीक-ठीक आदमी होने की बेतरही से लिपटा जूझ रहा हूँ
वह पात्र मैं नहीं हो पाता

आदमी और कवि के बीच की उलझी हुई जगह में दोनों होता हुआ
मैं परदेस से अपना खोया हुआ घर देखता हूँ
वहाँ तक जाता हुआ रास्ता कैसे मिटता जाता है स्मृति से
जब लौटूँगा गाँव की ओर कहीं
गाँव के आसपास
समय बरामद कर
इस शहर की चिथड़ा लाश की जेब से

वह पता
जहाँ मैं रहता हूँ स्मृतियों में
वह वहाँ क्यों नहीं है
याकि वह स्मृति जिसमें मेरे रहने की तय जगह
अब कोई मामूली पता नहीं रही

एक किराए का मकान
जिसने कितने किरायदारों को मकान और किरदार बदलते देखा

लेकिन अपने किरदार में वह वही रहा
एक ग़लत पते का मकान
जिसपर पहुँच आते हैं अब भी कई-कई डाकिये

जीवन के अभिनय में मुझे जब कवि होना था
याकि कवि होने के अभिनय में करनी थी
जीवन की खोज
एक कविता के मुहाने पर बैठा
बेचैन चिड़ियों के शोर में
पुकारता हुआ एक नाम

वह नाम जो मेरे किरदार का हो सकता था
जिसे अभिनय के क्रम में
भूल आया हूँ काठ के पल्ले पर
चश्मे, डायरी और अधबुझी सिगरेट के आसपास कहीं

कवि होने के अभिनय में
मैं वह स्त्री नहीं बन पाया
जो मुझसे प्रेम कर सकती थी
उसके श्रृंगार में पा सकता था कैवल्य
उसकी किसी कल्पना में रह सकता था
समय के आर–पार

कवि होने में जो कुछ हुआ जा सकता है
उसके होनेपन में जीवन का इकहरा अभिनय
एक ग़लत पाठ है।

भिश्ती की नींद भी पानी का एक सपना है

हमारी ईंटें धूप से पगी थीं
हमारे खून का लोहा टनटनाता था
आबादियों से हड़बड़ी की मुठभेड़ में
हम कतारों में इतने पीछे थे कि
एक पांव नाली में भी रखने को तैयार थे

हमारी भूख में खेतों की भी भूख थी
हमारे वजन में मिट्टी का भी वजन था
हमारी नींद में सोती थी रातें
हम जागते हुए दिन में जुगनुओं की तरह थे —
प्रत्यक्ष और परोक्ष की मांझ में फंसे

हमारी देहरियों पर अनागत विधाता के पदचिह्न थे
हमारे मनों से देवालय जा चुका था
अपनी सीमाएं समेटे कस्बे के किसी सज्जन कोने में

हम वर्जनाओं के जर्जर पुल पर
हाथ जोड़े खड़े थे
शताब्दियों की पंक्ति में

हम कंकड़ थे —
जिन्हें किसी ईश्वर के नालायक दूत ने
आबादियों में मिला दिया होगा
फुटकरों की भूख में सानकर

हम प्यादे —
ज़मीन की ऊष्मा और शीत के थर्मामीटर
पहुंचे देर से
गीतों में, रीतों में
नाटक, कविताओं में
साहित्य की निविदाओं में

हमें सुना जा सकता था
झींगुरों की तरह घुनघुनाती हुई आवाज़ों में
खोजा जा सकता था —
मतदाता सूची के बाहर
घमाए चेहरों में

हमने आंतें तक फैला दीं —
आनेवाली संततियों को कुएं से बाहर धकेलने
(लेकिन यह जंग खाई हुई क्रूर दुनिया

रोटी देकर सपने छीन लेती है।)

हम देखेंगे फिर भी सपने
भले उसके लिए सूरज की ओर ताकते
आँखों का पानी सूख क्यों न जाए —
हम रेगिस्तान की आँखों में
पानी का सपना देखेंगे

पानी ही बचा सकता है
हमारी रेत होती आँखों को
रेगिस्तान होने से

(भिश्ती की नींद भी पानी का एक सपना है
जो प्यास के कंठ से उतरती है)

हम पैदल के टखनों में पंख का सपना बांध देंगे
हम दौड़ेंगे —
हमें नस्लों की दौड़ से आगे निकलना है

हम भूख की परती पर रोटी का सपना बो देंगे
हम आएंगे —
उगते हुए।

इतवार

1. यह इतवार भी चला गया
कहीं नहीं गया वह आदमी
जो चाहता था —
इतवार रुके
और वह चलता बने।

2. इतनी की मिन्नतें
इतने जोड़े हाथ–पाँव
इतना किया इंतज़ार

नहीं लौटता वापस
परदेस में खो गया है कहीं
गाँव का लम्बा-चौड़ा इतवार।

3. इतवार छिपकली की टूटी हुई दुम है
या तो वापिस अपनी जगह पर उग आती है
या दुम में से पूरी की पूरी छिपकली निकाल देती है।

4. अकेला इतवार
सो रहा है धूप के सिर चढ़ने तक
भूखा है खड़ा चूल्हे के पास
बाल्टी भर पानी में आधा डूबा हुआ है
आईने के सामने औंधे पड़ा है

अकेला इतवार अकेला है
उसे नहीं ख़बर पड़ोस के बाकी दिनों की।

5. तुमने सोचा है?
यदि होता नहीं कोई इतवार!

तो क्या आदमी बहुत पहले हो गया होता मशीन
या पीट रहा होता माथा दफ़्तरों में टेबलों पर
या रट रहा होता कोई पाठ बैठा घिसे-पिटे पाठ्यक्रम का

या होते लाख–लाख बहाने प्रेमियों के
बना लेने को; मना लेने को अपना एक अलग इतवार
या होतीं अर्ज़ियाँ इतवार की रोती-बिलखती

इतवार नहीं होता तो कहाँ जाती इच्छाएँ
जो रोज़ बनती-खनकती रहती हैं
जीवन के टकसाल में

एक रिक्शेवाला कहीं–किसी पार्क, म्यूजियम, थिएटर, सिनेमा हॉल, स्टेशन या बस अड्डे की ओर जाती सड़क पर उसी सिक्के के इंतज़ार में खड़ा होता है चिलकती धूप में कड़कती ठंड में अपना इतवार ढूँढता।

❖

शंकरानंद

जीवन और जीवंत रिश्तों की विडंबनाओं को शंकरानंद की कविताएं शिद्दत से बयां करती हैं, समकालीन कविता की हड़बड़ी के बरक्स एक तरह की संवेदनशील दृढता उनकी कविताओं में दिखती है।

दुर्घटना का शिकार

मिलने की कोशिशें तमाम
एक दिन नाकाम हो जाती हैं
अगर ये एकतरफा हुईं तो
जिद रेत की तरह ढह जाती है

कुछ पता नहीं चलता वर्षों तक
प्रेम बचा हुआ है कि
घृणा की जड़ें फैल गईं हैं

बात करने से
सामने आने से
साथ बैठने से
रहस्य का पर्दा धीरे-धीरे खुलता है
फिर सच सामने आता है

रिश्ते बीज की तरह होते हैं
बिना देखभाल के घास उग सकती है
लेकिन बीज कभी फल-फूल नहीं सकते

धूप हवा पानी और उपेक्षा के बवंडर
पेड़ को गिरा देते हैं
फिर बीज तो उम्मीद की नमी खोजते हैं
जिन्दा रहने के लिए

दूसरों से किनारा करने और
मुंह फेरने की तैयारियों के बीच
अक्सर तेज भागती लालसा
दुर्घटना का शिकार हो जाती है

लहूलुहान हो जाते हैं सपने
तब पता चलता है कि
प्यास सोने के सिक्कों से नहीं
पानी से बुझती है

ये और बात है कि
तब पानी देने वाला भी कोई
आसपास नहीं बचता!

असल में

आसमान के
नीले रंग के आईने में
नदी की परछाईं है
पानी की लहरें हैं
चिड़िया की उड़ान और
फूलों की खुशबू है

वहीं कहीं व्यवस्था का जाल भी है
जाल में फंस कर बिलखती
छटपटाती मछली है

आसमान देखता है
नदी देखती है
पानी लहूलुहान लगता है

लेकिन असल में मरती मछली है।

छूटने की दिशा

जिस तरफ मुझे जाना है
वह दिशा मेरे इतिहास के
विपरीत दिशा में है

मेरी रोटी जिधर है
उस तरफ मेरा घर नहीं है

जिस तरफ मेरा घर है
उधर लौटने का मेरे पास
एक भी मौका नहीं है

इस तरह मेरे पाने की दिशा और
छूटने की दिशा पता नहीं कैसे
एक दूसरे के विपरीत हो गए हैं
मैं चाह कर भी ये दूरी
नहीं मिटा पा रहा

मैं जमीन के लिए तरसता हूं
जमीन मेरे लिए तरसती हुई
बंजर हुई जाती है

हद हैं लोग जो कहते हैं
आजकल बारिश कम हो रही है!

जो समय बदलते हैं

घड़ी की सूईयों के बीच भी
अंधेरा रहता है
शाम होने के बाद
वह धीरे-धीरे गहराने लगता है

चंद्रमा की चमक
उसकी रफ़्तार पर नहीं पड़ती

शायद इसीलिए बहुत रात के बाद
उसके चलने की आवाज
और तेज हो जाती है

जैसे अपने हिस्से की रोशनी मांग रही हो
हालांकि वह कभी मिलने वाली नहीं

फिर भी बल्ब जलाने से
घड़ी का चेहरा खिल जाता है!

जो दूसरों का समय बदलते हैं
वे ऐसे ही रोशनी के लिए तरसते रहते हैं

अनवरत चलते हुए
एक दिन रुक जाते हैं सहसा
चुपचाप

जैसे घड़ी बंद मिलती है
किसी सुबह।

गर्मियों की दोपहर

उदासी की एक रंगीन परत
फैल गई है चारों तरफ़
यह गर्मियों की धूप से भरी पृथ्वी के
कंठ सूखने का समय है

नदियों का स्वप्न और समुद्र के रेत
दोनों की घुटन लगभग एक जैसी है
सूखना और हवा के साथ उड़ जाना
पक्षी होने की निशानी नहीं होता

अक्सर कोई भटकता मिलता है
पता पूछने के लिए मनुष्य ढूंढता हुआ
कोई पेड़ की छांव खोजता

मीलों दूर तक का सफर पूरा कर लेता है
ठूंठ के किनारे से गुजरते हुए

धूप के दिनों में पृथ्वी
एक पेंटिंग है खुले में सूखती हुई
गर्म होती हुई
उंगलियां जलाती हुई

छूने से पता चलता है
कोई दोपहर कितनी बेरहम हो सकती है!

जमीन के काग़ज

इस पृथ्वी पर
सबसे ठोस अगर कुछ है तो
जमीन है

वह अपनी जगह नहीं बदलती
लेकिन उसका नक्शा बदल जाता है
उसकी चौहद्दी बदल जाती है
उसके कागज बदल जाते हैं

कौन कागज सही है और
कौन फर्जी
जमीन को कुछ नहीं पता

जमीन के लिए लोग बंटवारा करते हैं
दुश्मन बन जाते हैं
हत्याएं होती रहती हैं
खून बहता है उसी जमीन पर
जमीन के लिए
जहां थोड़ी देर पहले पटाया गया था पानी

लड़ने वाले मिट्टी में मिल जाते हैं
उनकी जमीन वैसी ही रहती है साबुत और

निसहाय

इतना कुछ होता है
लेकिन वह कुछ नहीं कर सकती

उसे एक के बाद एक होती मृत्यु नहीं
बीज चाहिए।

कोई तानाशाह

बचने की तमाम कोशिशें एक तरफ हैं
युद्ध लड़ने की जिद एक तरफ

चारों तरफ बस यही दृश्य है
कोई छिपने की जगह खोज रहा है
कोई लगा रहा है उसके ऊपर निशाना

कोई तानाशाह
यही तो कर सकता है
वह मार सकता है
बम से उड़ा सकता है
तबाह कर सकता है दुनिया
लेकिन एक घर नहीं बसा सकता

गोली और बारुद बनाने वाले
वे कोई मजदूर ही होंगे
जो तैयार करते होंगे इसे
मुट्ठी भर तनख्वाह के लिए

लेकिन वे नहीं जानते
नहीं जानते युद्ध में लड़ने वाले सिपाही कि
यही सब एक दिन उनके लिए भी
काम में लाया जाएगा

जब वे विरोध करेंगे तो मार दिए जाएंगे

नहीं करेंगे तब भी उनके घर की राख
हवा में उड़ती हुई मिलेगी
और वे कुछ नहीं कर पाएंगे

कोई तानाशाह
किसी को बचा नहीं सकता
वह तो खुद मरता है सबसे पहले

अब बस उसकी जिद जिंदा है
वह धूल चीख राख और
बारूद की गंध के लिए
तड़पता है दिन रात।

नक्शा

देखने पर कुछ पता नहीं चलता नक्शे से
वह दरअसल रहस्य से भरी रेखाएं हैं

जो रेखा जितनी सीधी दिखाई देती है
जितनी हरी भरी आसमान से
वह उतनी जटिल और रक्तरंजित होती है

यह दुनिया की बर्बरता को छिपाने का
एक खूबसूरत माध्यम है

नक्शा टेबल पर ही रखा रहता है और
देश मिट जाता है रातों रात!

चंद्र

अपनी कविताओं में चंद्र बड़ी भाव प्रवणता व सरलता से त्रासद स्थितियों को अभिव्यक्त करते हैं।

टाईम नहीं है

'टाईम नहीं है'
'समय नहीं है'
यह सबसे भयावह सदी का
सबसे खतरनाक मुहावरा है

जबकि सबके पास है समय-
दिन में कई बार खाना खाने के लिए
रात में कई फिल्में देखने के लिए
और बड़ी-बड़ी पार्टियों में उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए!

जबकि सबके पास है टाईम-
पृथ्वी पर बेमतलब चक्कर काटने के लिए
चादर तानकर सोने के लिए
बलात्कार और सनसनीखेज वारदातों जैसी खबरों को
लगातार टीवी स्क्रीन पर आँख गड़ाए देखने के लिए

सबके पास है समय-
लैपटाप फेसबुक व्हाट्सएप गूगल और तमाम
इंटरनेट पर घंटों उंगलियां फेरने के लिए
अश्लील अश्लील तस्वीर देखते हुए
जोर से हंसने के लिए
चमचमाते बाजारों में इधर उधर भटक भटक कर
ब्रांडेड पोशाकें खरीदने के लिए!

सबके पास है टाईम-
घंटो नहाने
घंटो कपड़ा बदलने
घंटो चेहरा आईना में निहारने के लिए
घंटो कार पर लगी हुई धूल पोंछने के लिए
घंटो जूता पालिश करने के लिए
देर देर वक्त तक
चाय की चुस्कियों संग
अखबारी गरमा-गरम समाचार देखने के लिए
मंदिर-मस्जिद के झगड़ा-फसाद में घंटों उलझने के लिए
और महंगे होटलों में बैठकर लंबी चौड़ी बहसों की
काईंयाँ उछालने के लिए

लेकिन नहीं है
उनके पास थोड़ा सा भी वक्त
थोड़ी सी इंसानियत
सुंदर पृथ्वी और वनस्पतियों को
बचाने के लिए....!

(2)

'टाईमनहीं है'
'समय नहीं है'
'वक्त नहीं है'...
यह इस सदी की सबसे खतरनाक
और सबसे भयानक फिल्मी डायलॉग है
या कहें
कि
भाषा में स्टाइलिश मुहावरा है!

जिन पन्नों पर लिखते हो तुम 'जीवन'
उन पन्नों पर लिख दो 'मरण'-

भाई! टाईम नहीं है
अभी समय है ही नहीं

तुम्हारे बाबा के दाह संस्कार में सम्मिलित होने के लिए
भाई ! टाईम नहीं है
अभी वक्त है ही नहीं हमारे पास बचा.. !...

मैं कहता हूं अचानक एक दिन उन लोगों से
कि मेरे बाबा
भयावह बीमारी के कारण अचानक मर जाएं

तो सूखी लकड़ियां जुटाना ही होगा
किसी किसी तरह
और भी बहुत कुछ करना, कराना भी होगा.....

वही लोग कहते हैं कि ओह !
'टाईम नहीं है'
भई ! टाईम नहीं है
टाईम नहीं है हमारे पास
अभी जुड़े हैं हम-
धर्म से
जाति से
संस्कृति से
ईश्वर से
संगठन से
चुनाव से
संघ से
जनगणना से
राजनीतिक पार्टी से
नेटवर्कींग मार्केटिंग से
नौकरी से

अभी व्यस्त हैं हम
खूब व्यस्त हैं हम
व्यक्तिगत शादी में
उत्सव में
पूजा में
जिंदगी के कबाड़खाना में

अभी व्यस्त हैं हम
खूब व्यस्त हैं हम...

भाई! अभी टाईम नहीं है!

जो कागज पर छपते हैं..

जो कागज पर छपते हैं
उन्हीं को लोग जाने क्यों इतना पढ़ते हैं

जो अपने दिल का लहू-पसीना का कतरा-कतरा बहा कर
पृथ्वी पर

मिट्टी और कुदाली से जो दिन रात लड़ते हैं
लड़ते-लड़ते एक दिन अचानक चुपचाप शहीद हो जाते हैं

पीसते हैं जो अपनी देह को
महीन और मुलायम मसाले की तरह-
जाने क्यों इन्हें लोग नहीं पढ़ते हैं!!!

कोई गाता है गीत दूर खेत में अकेले!

कोई गाता है गीत दूर खेत में अकेले
खटते हुए सुन्दर खेत में
गाते हुए अपने कानों से सुनता है
कि उधर किसी पेड़ के कोमल टहनियों पर कोयल रानी
कुहूक रही है कूहू कूहू

तब वह कोयल की मीठी संगीत के धुन पर
और लहरदार गीत गाने लगता है
तब उसका मधुर गीत सुनकर
दूर-दूर से
आने लगते हैं पंडुक
आने लगती हैं मैनियाँ
आने लगती हैं प्यारी-प्यारी नन्ही नन्ही गौरइयाँ

आने लगते हैं सफेद-सफेद बगुले
आने लगते हैं काले कौवे भी
और झूरू-झूरू आने लगती हैं बसंती हवाएँ
मधुर गीत हिया से लगाने के लिए

और जाने कहाँ से
कौन परदेस से
नयकी दुल्हिन बन ठन कर
झमर-झमर
आने लगती है
मेरे भीतर

अनन्त कविताएँ !!

❖

शिवम तोमर

मानवीय संबंधों की त्रासदी को दर्शाती शिवम तोमर की कविताएं गरिमा खोते संबंधों को फिर से ताकत प्रदान करती दिखती हैं।

मेरे जीवन में कितना हस्तक्षेप है तुम्हारी मृत्यु का

1.
मृत्यु के द्वार पर खड़ा हो कर
की होगी मेरी प्रतीक्षा
सम्पूर्ण ब्रम्हांड में बिखरने को आतुर
अपनी चेतना को समेट कर
एक आख़िरी बार
बंद होती पलकों के धुंधलके से
झाँक कर देखा होगा
और मेरी जगह पाया होगा
मेरा न होना
ईश्वर जिसे तुम इतना मानते थे
उसके सामने गिड़गिड़ाए भी होगे
कि मुझे लाकर खड़ा कर दे सामने
कोई तो बात होगी
जो मुझसे कहना चाहते होगे
कितनी बातें थीं
जो हवा में ठहरी रह जाती थीं
माँ और आपके बीच
मेरे सामने आ जाने भर से
बच्चा कब इतना बड़ा होता है
कि उसे यह बताया जा सके
कि उसका पिता एक ऐसी बीमारी से
जूझ रहा है
जिसे विजेता घोषित किया जा चुका है

पहले ही

मैं बड़ा हो गया
अपना और माँ का पेट काट कर जिसे पढ़ाया लिखाया
बताओ किस काम की थी वह पढ़ाई
मुझे अब तक नहीं आया ठीक से शोक मनाना
कोरे पन्नों को छूता हूँ
तो कफ़न का छूना याद आता है
मेरी कलम छोड़ो
मेरा हाथ छोड़ दो पिता

2.
फूल
अगरबत्तियाँ
घी का डिब्बा

आँगन में मसख़री करता धुआँ
पंडित के मंत्रोच्चारण करते होंठ
कैसी सुगंधों का मिश्रण था वह
कैसे कैसे दृश्य
ऐसी प्रबल मृत्यु
कि माँ, बहन और मैं
हम सब मर गए
पिता के साथ
थोड़ा-थोड़ा।

3.
गली मोहल्लों में हुई मौतों में
हर लाश में तुम्हारा चेहरा होता है
हुजूम को देख कर
लगता है डर
माँ की फूटी चूड़ियों के टुकड़े
मेरे छाती में गड़े हैं
दया की दृष्टि से देखती सैंकड़ों आँखें
मेरे शरीर में चस्पा हैं
मेरे जीवन में

कितना हस्तक्षेप है
तुम्हारी मृत्यु का।

रोटी की गुणवत्ता

जिस गाय को अम्मा
खिलाती रहीं रोटियाँ
और उसका माथा छू कर
माँगती रहीं स्वर्ग में जगह
अब घर के सामने आ कर
रंभियाती रहती है
अम्मा ने तो खटिया पकड़ ली है
अब गाय को ऊपर से ही
डाल देती हैं रोटी
बहुएँ
रोटी तीसरे माले से फेंकी जाती है
फट्ट की आवाज़ से
सड़क पर गिरती है
गाय ऊपर देखती है
तो कोई नहीं दिखता
गाय को लगता है
अम्मा स्वर्ग को चली गयीं
और अम्मा ही फेंक रही हैं
रोटियाँ स्वर्ग से

पहले अम्मा जो रोटियाँ देती रहीं
एकदम सूखी
मुँह में धरते ही चटर-चटर होतीं
यह रोटी तो
एकदम मुलायम
लेकिन बस एक ही
अम्मा चार रोटियाँ देती थीं

एक रोटी फेंक दिए जाने पर भी
गाय उसे खाना शुरू नहीं करती
वह ऊपर देखती रहती है

दूसरी, तीसरी और चौथी रोटी की बाट जोहती

गाय को लगता है
स्वर्ग में अम्मा के दाँत और पाचन
दोनों सही हो गए हैं
अम्मा उसके हिस्से की रोटियाँ भी
खा ले रही हैं
ख़ैर रोटी भी तो कितनी मुलायम है
नियत बिगड़ गयी होगी बुढ़िया की

ऊपर देखते-देखते
जब गाय की गर्दन दुखने लगती है
तो वह नीचे पड़ी
मुलायम रोटी
बेमन से चबाने लगती है

भूखी गाय को रोटी की गुणवत्ता से
कोई फर्क़ नहीं पड़ता है
भूखी गाय को तो कम से कम
चार रोटियाँ चाहिये
चाहे स्वर्ग से गिरें
चाहे तीसरे माले से।

उजली दोपहर

कहीं न कहीं
एक थकी हुई रात सो रही है

और यह उजली दोपहर
उस रात का मीठा स्वप्न है।

मोबाइल टॉवर पर कबूतर

मोबाइल टॉवरों के ऊपर
बैठे रहते हैं कबूतर

अदृश्य सिग्नलों और तरंगों में
चोंच मारते हैं,
कान लगा कर
हमारी बातें सुनते हैं

हमारी निजता की गुप्त दुनिया में
रोशनदान बनाते हैं।

मेरी तुम्हारी फ़ोन पर बात हो रही है
और मैं उस कबूतर को देख रहा हूँ
जो टॉवर पर बैठा हुआ है

मैं तुमसे बाय कहूँगा
और वह उड़कर मेरी कमरे की खिड़की पर आ पहुँचेगा

गर्दन हिला-हिला कर
मसखरी भरे गुटरगूँ करेगा
जैसे भाभी हँसती हैं मंद-मंद
मुझे तुमसे बात करते हुए
देख लेने पर।

तीन कमरों का खालीपन

तुम्हारे आसपास होने का आभास
हमेशा मेरे आसपास रहता है
वह लंबे अन्तरालों में लेता है साँस

उसके साँस लेने से
फूलता और सिकुड़ता है मेरा घर

मैं कौतूहल में देखता हूँ इधर-उधर

मेरे घर के तीन कमरों का खालीपन
बन गया है
तुम्हारे आस-पास होने के आभास का फेफड़ा।

ट्रैफ़िक जाम में एम्बुलेंस

ट्रैफ़िक जाम में फँसी
लगातार आवाज़ करती एम्बुलेंस

जिसको मैंने देखा
तुमने देखा
जाम में फँसे हर आदमी ने देखा

सबने चाहा कि
उसमें पँख लग जाएँ
और वह उड़ कर पहुँच जाए
अस्पताल

पर ऐसा न हो सकता था
बेकसी में चिल्लाती रही एम्बुलेंस

और फिर एकदम
तुम्हारी, मेरी और हम सब की
गाड़ी की सीट
जैसे हो गयी
असहायता का एक शिखर

जहाँ हाथ पर हाथ धरे बैठे
हम सब लोग
जितनी भी बार देखते
उस एम्बुलेंस को
दिल में धक्क-सा हो जाता

जैसे हमारी
एक धड़कन
जा कर लग जाती हो
हर बार
एम्बुलेंस में मृत्यु से लड़ते
उस मूर्छित मरीज़ को।

कूलर और चिड़िया

दीवार पर उस जगह देखता हूँ
जहाँ एयर-कन्डीशनर लगाया जा सकता है
जैसे ही मैं कल्पना करता हूँ
वहाँ एयर-कन्डीशनर लगे होने की
खिड़की के बाहर लगा कूलर ग़ायब हो जाता है
खिड़कियाँ दीवार होने लगती हैं
जैसे कमरा मीच रहा हो आँखें

जो चिड़िया कुछ देर पहले
कूलर की घास नोच रही थी
अब मेरे कमरे में घुस आई है
और प्रश्नचिह्न की तरह आकर बैठ गयी है
उस काल्पनिक एयर-कन्डीशनर के ऊपर

उस की चोंच में घास के गीले तिनके हैं
घास के तिनके उस कूलर के
जो मेरी खिड़की के बाहर लगा था
कूलर जिसका इस कल्पना में नहीं है अस्तित्व

उसकी चोंच में दबे तिनके सिर्फ़ तिनके नहीं हैं
बल्कि उसके अधूरे घोंसले को पूरा कर सकने वाली
सुलभ ईंटें हैं

चिड़िया मुझसे कुछ कहना चाहती है
उसने चोंच खोली है
उसकी चोंच से एक तिनका छूट जाता है
वह उड़ता हुआ तिनका
एक वाक्य है
जो मेरी आँखों में आ लगता है

मैं दर्द से झपकता हूँ आँखें
मेरी आँखें लाल पड़ जाती हैं
मेरी आँखों का लाल होना ही

चिड़िया के कहे का अनुवाद है
चिड़िया ने मेरी कल्पना की
घोर निंदा की है।

झूला

मैं पार्क में बैठा हूँ
मेरे सामने एक खाली झूला हिल रहा है
मेरे और उसके बीच हवा की एक अदृश्य कुर्सी है
जिस पर कोई बात पसरी पड़ी है
उसे फूँक मार कर वह मेरी ओर सरका रहा है

याद नहीं पिछली बार कब झूला था कोई झूला
झूला झूलना इस जन्म की बात तो नहीं लगती

झूले का यूँ आहिस्ता हिलना
आग्रह का एक गूढ़ रूप है

अपनी जगह से हल्का आगे और हल्का पीछे जाता
समय की अवधारणाओं में कंपन पैदा करता झूला
शायद किसी दूसरे जन्म से मेरी ओर देख रहा है

झूले पर जाकर बैठ जाना मेरा नया जन्म हो सकता है।

कुछ संगीतों के लिए वर्तमान वैक्यूम होता है

एक तरह का संगीत था
मैंने सुना था फ़िल्मों में
ख़ास क्षणों में बजता था

जब भी बजता
सब धीमा सा हो जाता

समुद्र तट पर नायक के बाँहें फैलाते ही
फ़ूट पड़ता था वह संगीत

लहरों की गति धीमी पड़ जाती थी

विरह की रात में
सड़क पर चलते हुए नायक का
निराशा में गर्दन झुका लेना
बुलावा था उस संगीत का
हल्की-हल्की बरसात का

नीरवता भरे क्षणों में
विरह के भारीपन से लदे दृश्यों में
तमाम महत्वपूर्ण घटनाओं के दौरान
बजता था वह संगीत
धुन अलग-अलग, वाद्य-यंत्र अलग-अलग
लेकिन जिस गति से मुझे भेदता
वह समान
उसका स्पंदन जिस तरह मेरी हृदयगति से ताल मिलाता
वह भी समान

मैं अपने जीवन का नायक
मैं स्वयं को देखता था उन जगहों पर
जहाँ हर घटना संगीतमय होती थी
जहाँ अब तक नहीं गया था मैं

समुद्र तट और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों पर
उन सब जगहों पर
जहाँ फ़िल्में घटित होती हैं
पहुँच कर महसूस किया मैंने
एक अधूरापन
वही दृश्य था, सब कुछ वही
पर मेरे बाँहें फैलाने के बावजूद
जो संगीत बजना चाहिए था
नहीं बजा

मेरा बाहें फैलाना निरर्थक
मेरा आकाश में देखना निरर्थक

मेरा निराशा में ज़मीन की ओर देखना निरर्थक

लेकिन जिस तरह मस्ती में उड़ रहा था बाज
लहलहा रहे थे पेड़-पौधे
बूढ़े दुकानदार की बीड़ी से निकल रहा था नाचता हुआ धुआँ
मैं कैसे मान लेता कि यह सब
किसी संगीत के ताल पर नहीं हो रहा था

सालों बाद मैं आज करता हूँ याद वह क्षण
और सुन पाता हूँ उस संगीत को बजते हुए
बाज को उड़ते हुए
पौधों को लहलहाते हुए
धुँए को नाचते हुए

कुछ संगीत सिर्फ़ स्मृति में ही सुने जा सकते हैं।

लाल क़िले की चिड़ियाँ

लाल क़िले के परिसर में
दीवान-ए-आम के पीछे
है संगमरमर की एक दीवार
जिस पर उकेरे गए
सुंदर फूल, पौधे और चिड़ियाँ
ये चिड़ियाँ इतनी असली लगती हैं कि
उनकी ओर बढ़ाये गए एक कदम पर
फुर्र से उड़ जाएँ
उस परिसर में घूमती-उड़ती चिड़ियों को भी
ऐसा ही लगता है
दीवार पर उभरे हुए फूल-पौधे-चिड़ियाँ
सब असली लगते हैं
वे दीवार पर बनी फूल-पत्तियों
को खाने की कोशिश नहीं करतीं
लेकिन असली-सी दिखने वाली
दीवार वाली चिड़ियों को
चोंच मार कर बाहर निकाल लेना चाहती हैं

लाल क़िले की ज़्यादातर चिड़ियों की
चोंच में दर्द रहता है

एक दिन कुछ चिड़ियों की
चोंच टूट कर गिर जाएगी
और तब शायद
उस दीवार पर रह जाएंगे
सिर्फ फूल-पत्तियाँ
और क़ैद का एक इतिहास

बुरे सपने

बुरे सपने आते हैं
माँ कहती है बुरे साये हैं
जो चाकू भोथरे हो गए
सब मेरे गद्दों के नीचे रख दिए

एक दिन पिता आए सपने में
सब्ज़ी का थैला रख दिया सामने
और एक गिलास पानी माँगा
ठुंसी हुई सब्ज़ियों के उपर
अनार चमक रहे थे

पिता का सपनों में आना बुरा नहीं है
पिता का सिर्फ सपनों में आना बुरा है
बुरे सपने देखते हुए खून जलता है
पिता जब भी आते हैं
अनार लेकर आते हैं।

निजता - एक भ्रम

इस दुनिया के प्रति उदासीन होकर भी
मैं इस दुनिया से अलग नहीं हो सकता
दीवारों की आँखों में मेरा चेहरा है
रोशनी इधर-उधर से टकराकर आती है मुझे छूने

मेरी नब्ज़ लेती है दिन भर
बंद खिड़की के उस पार से
झाँकती है दुनिया

इतने शोर में से भी
सिलसिलेवार तीरों सा आता यह चुप
उसी दुनिया की पुकार है
मुझे नहीं पता अब
कि क्या कहने सुनने को बचा है

मैं एक अंतर्मुखी कवि हूँ
और एक अंतर्मुखी कवि की निजता में
भयंकर कोलाहल होता है
मुझे तो उन विचारों को टटोलते हुए भी डर लगता है
जिन पर 'वर्जित' का लेबल लगा हुआ है
उन को छूते ही
लोगों की आँखों में मेरी तस्वीरें चटक जाती हैं
मेरा चरित्र लोगों की सिकुड़ती भौहों पर से
लड़खड़ा कर गिर पड़ता है

इस कमरे के भीतर
मेरी सांसारिक छवि उतरी पड़ी है
निर्वस्त्र मैं
इन आँखों से जिन पर दुनियादारी का लेंस चढ़ा है
स्वयं को देखता हूँ
और शर्म से गड़ जाता हूँ
घुटनों तक

मैं जितने कदम इस कमरे से बाहर लेता हूँ
उतने कदम स्वयं के सत्य से दूर जाता हूँ

मैं बस इस कमरे में मैं हूँ
यहाँ मेरे सब कुछ हो सकने की अपार संभावनाएं हैं
इस कमरे में मेरा अस्त्तिव द्रव है
इस कमरे से बाहर

मैं एक तस्वीर मात्र हूँ
लोगों की आँखों में जड़ी हुई
हिलने डुलने को बेताब
छटपटाती हुई

जो दुनिया मुझे खिड़की के काँच के उस तरफ से देखती है
जानती है कि
इस कमरे के भीतर बैठा
अपने अंतर्मन में
मैं एक नई दुनिया का निर्माण कर रहा हूँ

मुझे इतनी भारी दुनिया की नींव बनता देख
वह दया की नज़रों से देखती है मुझे

इतनी बड़ी दुनिया
अपनी अपार सुंदरता और
उस सुंदरता के प्रति असुरक्षा की भावना लिए
उन कवियों के मन में पैठ करती है

जो एक नई दुनिया के निर्माण में लगे हैं
और अनजाने में उन्हें अपने फैलाव से
मार डालती है

एक कवि जो अपनी निजता में
रच रहा है
एक आदर्श नई दुनिया
उसकी निजता एक भ्रम है
यह घबराई, अघायी, टूटती-बिखरती दुनिया
ख़ुद को समेटकर
कवियों की खिड़कियों पर
जा खड़ी होती है।

❖

सिंदूर

तसलीमा नसरीन

सिंदूर इसलिए क्योंकि सिंदूर लगाने से उसे सड़क पर आते-जाते लोग सम्मान देते हैं। ई-रिक्शा चलानेवाले लोग उसे भाभी कहकर बुलाते हैं। यहाँ तक कि हाट-बाज़ार में भी उसे अपने लिए भाभी शब्द ही सुनाई देती है। जिन घरों में प्रमिला काम करती है उन घरों की भद्र महिलाएँ भी उसी की तरह सिंदूर, शाखा और पोला पहनकर घरों से बाहर घूमने जाती हैं।

भाग्य बदलने के लिए कृष्णनगर से दिल्ली चले आये थे सलिल दास। खेती की ज़मीन जैसी थी, उसे उसी रूप में छोड़कर। वह ज़मीन जो फ़सल दे रही थी, उससे जीवन निर्वाह करना कठिन हो रहा था। उन्होंने अपने भाई को अपनी ज़मीन बिना किसी लिखा-पढ़ी के ही दे दी थी और कहा था इस 'ज़मीन को देखना और खेतीबाड़ी करना।' इसके बदले में भाई ने उन्हें हज़ार पाँच सौ के क़रीब रुपये दिये थे। वो जो एक बार दिल्ली आये सलिल दास, फिर वापस गाँव नहीं लौटे। दिल्ली आकर उन्होंने गोविंदपुर की बस्ती में कमरा किराये पर लिया था। उसी बस्ती में उनके गाँव के दो जान-पहचान वाले लोग थे, जिन्होंने उनके रहने और नौकरी की व्यवस्था कर दी थी।

सलिल दास चित्तरंजन पार्क के बी ब्लाक में गार्ड की नौकरी कर रहे थे और उनकी बेटी प्रमिला एवं पत्नी आरती दूसरों के घरों में खाना बनाने तथा साफ-सफ़ाई का काम कर रही थीं। इससे उनके रहने और खाने का गुज़ारा ठीक से चल जाता था। इसी से कुछ पैसे भी जोड़ लिए थे उन्होंने प्रमिला के विवाह के लिए। प्रमिला का विवाह तुगलकाबाद में एक बंगाली परिवार में ही संपन्न हुआ था, जिस परिवार के साथ प्रमिला का रिश्ता जुड़ा था, वे स्वयं भी कृष्णनगर के रहनेवाले थे। माता-पिता ने देख-सुनकर ही प्रमिला का विवाह तय किया था। क्या देखा था, क्या सुना था, प्रमिला नहीं जानती। ससुराल में जाने के सात दिन बाद से ही उसने देखा था कि परिवार के बारह सदस्यों के सभी काम वह अकेले ही कर रही थी। पान में चूना लगाकर मुंह में भरने के साथ ही मुंह से गालियों की बौछार शुरू हो जाती थी सासू माँ की। दूसरी तरफ़ प्रमिला का पति था जो कभी रात को लौटता और कभी नहीं भी। अगर

कभी लौटता भी तो माताल (नशे में धुत्त) होकर। प्रमिला ने इस नारकीय जीवन को उन्नीस वर्ष की आयु से ही चुपचाप स्वीकार कर लिया था। इसके अतिरिक्त और चारा ही क्या था उसके पास! माता-पिता को अपनी आपबीती बताने के बाद भी दास-दासियों वाले जीवन से एक दिन के लिए भी मुक्ति नहीं मिली थी उसे।

प्रमिला को केवल सातवीं कक्षा तक ही पढ़ाया था सलिल दास ने। परंतु पुत्र प्रणय को माध्यमिक (दसवीं) तक। दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद ही प्रणय केरल के एक कारखाने में चला गया था रोज़गार करने। केरल में काम करनेवाले कृष्णनगर के जो जान-पहचानवाले लोग रहते थे, उन्हीं के हाथों प्रणय की खोज-ख़बर मिल जाती थी सलिल दास को। प्रणय ठीक है, अच्छा कमाता है। पिता ने प्रमिला की शादी के लिए भी कुछ रुपये भेजने को कहा था प्रणय को परंतु उस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया था प्रणय ने। यहाँ तक कि शादी में भी नहीं आया था वह। पुत्र-पुत्र करके अचेत हो रहे थे सलिल दास और आरती।

परंतु वही पुत्र अपने माता-पिता के किसी भी दुःख-तकलीफ़ में उन्हें एक बार देखने तक नहीं आया। सलिल दास प्रायः लंबी साँसें भरकर कहते 'बेटा तो लगता है माँ-बाप के मरने पर मुखाग्नि देने भी नहीं आएगा'। परंतु आरती लंबी साँसें नहीं भरतीं वरन् कहती हैं, 'न आये, हमारी प्रमिला ही हमें मुखाग्नि देगी'।

प्रमिला की शादी के बाद बहुत अकेली पड़ गयी थी आरती। शादी से पहले दोनों माँ-बेटी एक ही साथ काम पर जाती थीं। जे. ब्लॉक में माँ-बेटी साथ-साथ ही काम करती थी। दोनों में से यदि किसी का काम भी पहले समाप्त हो जाता तो वे एक-दूसरे की प्रतीक्षा करतीं। यदि माँ का काम पहले समाप्त हो जाता तो वह पार्क में प्रमिला का इंतेज़ार करती और यदि प्रमिला का काम समाप्त हो जाता तो वह अपनी माँ को पार्क से साथ लेती हुई ई-रिक्शा से घर लौट जाती। वे दिन अब कहाँ! प्रमिला के ससुराल में क्या हो रहा है, इन सबकी ख़बर मिलती रहती है आरती को। अब तो आरती को उस दिन की प्रतीक्षा है, जब प्रमिला के दुर्दिन हमेशा-हमेशा के लिए कट जाएँ, लेकिन उसके दुर्दिन काटे नहीं कटते। एक दिन प्रमिला को उसके सास-ससुर, देवर, ननद और पति सबने मिलकर खूब मारा। उसकी वजह यह थी कि निताई ने दो हज़ार रुपये तकिये के नीचे रखे थे, जो उसे मिल नहीं रहा था। उन्हें संदेह है कि दो दिन पहले प्रमिला की माँ प्रमिला से मिलने आयी थीं, ज़रूर प्रमिला ने वह रुपये अपनी माँ के हाथों घर भिजवा दी होंगी। एक तरफ़ सास थी जिनका कहना था कि उनके कान की सोने की बालियाँ अलमारी से ग़ायब है तो दूसरी ओर ननद ने भी आकर कहा कि उसका चाँदी का हार भी उन्हें कहीं मिल नहीं रहा है। पिटाई के कारण प्रमिला को कंपकंपी के साथ बुखार आ गया था, जिसकी किसी को परवाह नहीं। प्रमिला तीन दिन तक बिस्तर पर पड़ी रही बुखार से, लेकिन किसी ने उसे कुछ खाने तक को नहीं दिया था। इस बात की ख़बर मिलते ही आरती अपने साथ घर ले गयी थी प्रमिला को। प्रमिला की सास पूरे मोहल्ले को सुना-सुनाकर कहने लगीं—ये डायन फिर कभी लौटकर न आये इस घर में।

प्रमिला अपने माता-पिता के पास पिछले दो महीने से रह रही है। लेकिन निताई नहीं आया उसे लेने। उसके आने की उम्मीद भी अब छोड़ दी थी प्रमिला ने और फिर से दूसरों के घरों

में काम करने निकल पड़ी। प्रातःकाल उठकर ही प्रमिला अच्छे कपड़े, जूते पहनकर अपने घने काले बालों का जूड़ा बनाकर और माँग में मोटा सिंदूर लगाकर, काँधे पर वैनिटी बैग लिए पैदल निकल पड़ती जल्दी-जल्दी ई-रिक्शा पकड़ने। इस प्रकार एक वर्षा ऋतु निकलकर दूसरी वर्षा ऋतु भी आ गई लेकिन निताई ने प्रमिला के साथ कोई संपर्क नहीं किया था। सलिल दास पिछले दो वर्षों में छह बार जा चुके थे प्रमिला के ससुराल में और उनके ससुर से पूछा था कि क्यों वे लोग प्रमिला को वापस ससुराल नहीं ला रहे हैं। छठी बार भी उन्हें एक ही उत्तर मिला था निताई के चाहने पर ही वो लोग उसे ले आयेंगे, लेकिन समस्या यह है कि निताई नहीं चाहता और निताई की माँ भी नहीं चाहती। प्रमिला के ससुर की किराने की दुकान है। चलती भी अच्छी है। सलिल दास ने सोचा था बेटी को और दुःख का मुंह नहीं देखना पड़ेगा। क्या सोचा था और क्या हुआ! सलिल दास प्रमिला को अभाव मिटाने के लिए नहीं बल्कि लोकनिंदा की वजह से भेजना चाहता है ससुराल। यदि समाज का डर नहीं होता तो वह उसे ताउम्र अपने पास ही रखता। बेटी को अपने पास पाकर दुखी नहीं थे सलिल दास। दूसरी ओर बेटा है जो होकर भी नहीं है। देखा जाए तो संतान के रूप में बस यही दुखियारी लड़की है उनकी। जो अपना खर्च चलाने के लिए पिता के आगे हाथ फ़ैलाने की बजाय दूसरों के घर पर काम करती है। प्रमिला हर महीने अपने खर्चे के रुपये रखकर बाकी महीने के पैसे अपने माता-पिता के हाथों में दे देती है।

ससुराल छोड़कर आने के कुछ महीने बाद प्रमिला ने एक संतान को जन्म दिया। घर पर ही दाई माँ आ गई थीं और प्रियंका का जन्म हुआ। उस समय ससुराल के सभी लोगों को सूचना दे दी गई थी, विशेषकर निताई को। लेकिन बच्चे को देखने कोई नहीं आया। प्रमिला ने अपने पति के व्हाट्सएप पर प्रियंका की छवि भेज दी थी। परंतु उधर से कोई उत्तर नहीं मिला उसे। प्रमिला सोचने लगी, भले ही कोई उत्तर न दे निताई फिर भी प्रियंका के पिता होने के नाते उनका यह अधिकार है कि वह अपने बच्चे का मुंह देखे। इसी बीच प्रमिला को एक दिन ख़बर मिलती है कि निताई दूसरी शादी कर रहा है। एक पत्नी के रहते हुए फिर से विवाह? किसी-किसी का तो यह भी कहना है कि दूसरी शादी क्यों नहीं कर सकते, लिखा-पढ़ी करके विवाह न हो तो, पंडित के मंत्रपाठ से विवाह करवाने पर ऐसा ही होता है। इस घटना के बाद आरती ने सोचा था कि प्रमिला अब शायद जीवन में सिंदूर कभी न लगाए। परंतु प्रमिला ठीक पहले की तरह ही माँग भरकर सिंदूर लगाने लगी थी।

प्रमिला अपने आप से सवाल कर रही थी कि आखिर क्यों वह सिंदूर लगाती है। अपने आस-पड़ोस की दो औरतों से प्रमिला ने बिना किसी संकोच, बिना किसी संदेह के कहा था कि वह निताई से बहुत प्रेम करती है इसलिए सिंदूर लगाती है। लेकिन प्रमिला स्वयं इसका जो उत्तर जानती है, वह बहुत भिन्न है। जिस प्रकार निताई ने सबके साथ मिलकर उसके ऊपर झूठे आरोप लगाकर उसकी पिटाई की थी, उस आदमी से और बाकी कुछ भी किया जा सकता है परंतु उससे प्रेम नहीं किया जा सकता। क्या निताई भी उससे प्रेम करता है? इसका उत्तर प्रमिला जानती है कि वह उससे प्रेम नहीं करता। क्या प्रमिला को अभी भी उम्मीद है कि निताई उसे एक दिन लेने आएगा? एक वक्त था जब वह ऐसा सोचती थी परंतु दूसरी शादी

करने के बाद उसने इस उम्मीद को भी जलांजलि दे दी थी। तो फिर सिंदूर क्यों?

सिंदूर इसलिए क्योंकि सिंदूर लगाने से उसे सड़क पर आते-जाते लोग सम्मान देते हैं। ई-रिक्शा चलानेवाले लोग उसे भाभी कहकर बुलाते हैं। यहाँ तक कि हाट-बाज़ार में भी उसे अपने लिए भाभी शब्द ही सुनाई देती है। जिन घरों में प्रमिला काम करती है उन घरों की भद्र महिलाएँ भी उसी की तरह सिंदूर, शाखा और पोला पहनकर घरों से बाहर घूमने जाती हैं। प्रमिला को देखने से लगता नहीं कि वह उनसे भिन्न है। प्रमिला भी सिंदूर, शाखा और पोला पहनकर उन्हीं की तरह अपना सिर ऊँचा करके घूमती है। जब उसके माथे पर सिंदूर नहीं था, तब न जाने कितने लोग उसके आगे हाथ बढ़ाते, छाती को नोचते, जान-बूझकर देह के ऊपर गिरते, नितम्बों पर चुटकी काटते और रुपये का लालच दिखाकर शारीरिक संबंध बनाने की माँग तक कर डालते थे।

प्रियंका को सुबह-सुबह ही आरती के हाथों सौंपकर प्रमिला निकल जाती है घरों में काम करने। अब आरती को प्रियंका की देखभाल करनी पड़ती है इसलिए आरती ने सुबह खाना बनाने का काम छोड़ दिया है। पहले एक ही घर में काम करती थी प्रमिला परंतु अब पाँच घरों में करती है। सुबह सात बजे से लेकर बारह बजे तक तीन घरों में खाना बनाने का काम, दो बजे से लेकर शाम को पाँच बजे तक दो घरों में झाड़ू-पोंछा का काम करती है प्रमिला। इससे महीने के बारह हज़ार रुपये कमा लेती है वह। प्रमिला दूसरों के घरों में काम करने के साथ-साथ अपने पिता के घर का काम भी करती है और ये बिलकुल मुफ़्त है। ससुराल के घर का काम भी बिना पैसे का ही था। लेकिन पिताजी के घर और ससुराल के घर के कामों में ज़मीन-आसमान का अंतर था। पिता के घर में काम न करने पर भी उसे कोई लात और झाड़ू से नहीं मारता, न ही गाली-गलौज करता और न ही कोई पीटता। इस घर में हंसी-ख़ुशी से दिन बीतते हैं प्रमिला के। घर के रूप में एक ही कमरा है, एक ही चारपाई जिसपर सलिल दास सोते हैं बाक़ी नीचे ज़मीन पर बिस्तर लगाकर आरती, प्रमिला और प्रियंका सोती हैं।

एक रात निताई आया। नींद से आँखें बंद हो रही थी प्रमिला की, ऐसे में आरती के धक्का देकर जगाने से हड़बड़ाकर उठ बैठी थी प्रमिला। क्यों निताई क्यों? निताई आया है प्रमिला के साथ ज़रूरी बात करने। सलिल दास ने आरती से पूछा क्या बात करने आया है वह प्रमिला के साथ? आरती बोलीं, क्या बात करनी है ये मैं कैसे जानूँगी!

- तो फिर कौन जानेगा?

- जानेगी प्रमिला।

- लेकिन इतने दिनों बाद क्या बात करनी है उसे प्रमिला से?

- वो तुम प्रमिला से ही पूछो।

प्रमिला तबतक घर के बाहर सेमल के पेड़ के नीचे जा खड़ी हुई थी।

प्रमिला बोली–क्यों आये हो, क्या चाहिए?

- देखने आया हूँ। सुनने में आया बहुत मस्ती कर रही हो।

- मस्ती कब की, बच्चा पाल रही हूँ।

- वो छोटी बच्ची तो लड़की है। उसको पालकर क्या फ़ायदा !

- यही सब फ़ालतू बातें करने आये हो यहाँ?

- आया हूँ, तेरी बहुत याद आ रही थी न इसीलिए।

- तुम्हें मेरी याद आयी वो भी दो साल के बाद! असली वजह बताओ। अगर तुम बच्चे को ले जाने की सोच रहे हो तो वो मैं तुम्हें माँगने पर भी नहीं देनेवाली।

निताई ने ठहाका मारकर कहा-किसकी-न-किसकी औलाद है, मुझे कौन-सा दुःख है, जो इसे लेने आऊँगा? हँसते ही मुँह से शराब की गंदी बदबू प्रमिला के नाक में जा घुसी थी। इस बदबू को वह बहुत अच्छे से पहचानती थी। अक्सर रात को उसे इसकी बदबू आती थी। शराब पीकर क्या ही तो पीटता था निताई उसे। प्रमिला को बिना मारे निताई की शराब भी कहाँ हजम होती थी।

- सुनने में आया बहुत पैसे कमा रही हो।

- पैसे तो चाहिए ही। तुमने तो एक रूपया भी नहीं दिया। बच्ची हुई। उसे पालने में खर्चा नहीं है क्या?

- कुछ रुपये दो।

- तुम्हें देने के लिए मेरे पास रुपये नहीं हैं।

- झूठ क्यों बोल रही है?

- रुपये दे, नहीं तो चिल्लाऊंगा।

- चिल्लाओ। उससे किसी का क्या?

निताई सच में चिल्लाने लगा जिससे घिंजी बस्ती के सभी सुनें। – छिनार, मागी प्रमिला न जाने किसका-न-किसना बच्चा पेट में पाली हुई थी। मैं निताई, उसका पति, मैं ये बता देना चाहता हूँ कि यह बच्चा मेरा नहीं है।

प्रमिला ने दोनों हाथों से अपने कान बंद करते हुए घर की ओर दौड़कर दरवाज़े बंद कर दिये। उधर घर के भीतर उसके माता-पिता यह सु-ख़बर सुनने के लिए बेचैन हैं कि दोनों में क्या बातें हुईं? उन्हें लगा शायद निताई को अपनी गलती का एहसास हुआ है, इसीलिए वह प्रमिला और बच्ची को लेने आया होगा।

- क्या रे, क्या बोला, प्रियंका को तो कभी देखा नहीं उसने, देखना चाह रहा है? घर में क्यों नहीं लेकर आयी?

- पूरे मोहल्ले में चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है कि प्रियंका उसकी औलाद नहीं है। पैसे माँगने आया था, पैसे नहीं दिये, इसलिए चिल्ला रहा है।

- तुम्हें लेने नहीं आया था?

- मुझे कहाँ लेकर जाएगा, घर में तो उसकी एक और बीवी है।

दूसरे दिन रात को फिर से आया था निताई। रात क़रीब ग्यारह बजे। मुँह से शराब की बदबू आ रही थी। अबकी बार सेमल के पेड़ के नीचे नहीं गयी थी प्रमिला, बल्कि घर के चौखट पर ही खड़ी होकर बात कर रही थी। घर के भीतर सलिल दास और आरती गहरी नींद में भले ही न हों लेकिन आँखें बंद किये हुए ज़रूर थे। प्रियंका सो चुकी थी। प्रमिला निताई से जानना चाह रही थी कि क्यों आया था वह? निताई का जवाब पहले जैसा ही – बहुत रुपये

कमा रही हो। कुछ रुपये दो।

- मेरी मेहनत की कमाई है, तुम्हें दूँ किसलिए?

- सिंदूर लगाती हो, देना तो होगा ही?

- सिंदूर मैं तुम्हारे लिए नहीं लगाती।

- तो फिर किस यार के लिए लगाती हो, बताओ।

- किसी भी यार के लिए नहीं लगाती।

- तो फिर किसलिए लगाती हो?

- मेरी इच्छा होती है, इसलिए लगाती हूँ।

- पैसे नहीं दोगी तो सबसे कह दूँगा कि तुम वेश्या हो।

- काम करके खाती हूँ, वेश्या बनने जाऊँगी किसलिए?

- तो फिर रुपये दो।

प्रमिला ने अपने पर्स से इक्कीस रुपये निकाले और निताई के हाथ में देते हुए बोली-ये रुपये मैंने तुम्हारे बच्चे के दूध ख़रीदने के रुपये में से दिए हैं। फिर कभी मत आना यहाँ पैसे माँगने के लिए बोल देती हूँ। आने से मैं पुलिस को बुलाऊँगी।

- बुलाकर देखना तुम, देखते हैं पुलिस किसे पकड़कर ले जाती है। मैं कह दूँगा कि मेरे घर से रुपये-पैसे, गहने-ज़ेवर सब लेकर भागी हो तुम। उसके बाद जेल की जो भात खाना पड़ता है, उसको याद रखना।

पूरी रात प्रमिला सो नहीं सकी। इसी कारण सुबह जब काम पर जाती तो उसे झपकियाँ आने लगतीं, थकान से देह टूट रही थी। ऐसे कैसे उसका काम चलेगा! उसे हमेशा इस बात का डर लगा रहता कि निताई ज़रूर उसका कुछ-न-कुछ अहित करेगा। ससुराल में उससे कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं करेगा, इसी शर्त पर प्रमिला को वापस ले जाने की बात कहकर आये थे सलिल दास। लेकिन निताई ने किसी भी शर्त पर अमल नहीं किया। ऊपर से न तो कुछ बोला न सुना, ये भी नहीं कि दो बातें ही अच्छे से करे, सुलह करने भी नहीं और न ही प्रमिला को वापस लेने और न ही बच्ची को देखने के लिए आया है, आया है तो क्या रुपये माँगने। शराब के नशे में धुत्त हुए इंसान को हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता है। ज्ञान था ही कब निताई को! प्रमिला ने अनुमान लगा लिया था कि निताई उसके पास सिर्फ़ शराब के लिए ही पैसे माँगने आता है। लेकिन एक आदमी के लिए उसे शराब का पैसा इकट्ठा करना ही क्यों पड़े? क्या रिश्ता है उसका इस आदमी के साथ? प्रियंका के पिताजी हैं, इससे अधिक तो और कोई संबंध नहीं है दोनों के बीच। जिसने कभी अपने बच्चे को दूध नहीं पिलाया, उसके लिए खाने का सामान नहीं ख़रीदा, बच्चे को कभी गोद नहीं लिया, कभी प्यार से उसे दुलारा नहीं, कभी अपनी गोद में लेकर उसे सुलाया नहीं, कभी बच्चे की किलकारियां तक नहीं सुनी, बच्चे का कभी कपड़ा-लत्ता नहीं धोया, बच्चा क्या वास्तव में उसका है?

इन सबके बाद भी कई बार आया है निताई पैसे माँगने। इक्कीस रुपये नहीं लेगा वह। उसे पचास रुपये चाहिए। प्रमिला ने भी उसे पचास रुपये ही दिए थे। सलिल दास ने अबकी बार डंडा रखा है दरवाज़े के पीछे, निताई को मारने के लिए। इस बार आने से ही पीटेगा। एक

दिन वाकई में आ धमका था निताई, प्रमिला इस बार उसके सामने नहीं आयी थी, उसके पिताजी ने ही उसे मारकर भगाया था।

प्रमिला सुबह जिस घर में खाना बनाने जाती है, वह उसका बहुत पुराना घर है। शादी से पहले भी वह इसी घर में खाना बनती थी। घर की मालकिन अक्सर प्रमिला से बातें किया करती थीं। प्रमिला को उसके ससुरालवालों ने जब पीटा था, उसके पति ने दूसरी शादी कर ली है, बच्चे का कोई खर्चा वह नहीं देता, ऊपर से खुद के शराब पीने के लिए रुपये माँगने आता है, ये सारी बातें जानती हैं प्रमिला की मालकिन, उसने उन्हें सबकुछ बता रखा है।

मालकिन ने एक दिन उससे पूछा–तुम्हें तलाक़ दिया है?

प्रमिला अपना सिर पकड़कर बोलने लगी– नहीं, नहीं दिया है।

- हिन्दुओं में तो दो पत्नी रखने का नियम नहीं है।

- वो भला मैं क्या जानूं! दूसरी शादी तो कर ही ली उसने!

- तुम्हें तलाक़ दिये बिना, दूसरी शादी करना गैरकानूनी है। तुमलोगों की शादी तो रजिस्ट्री करके हुई है न?

- लगता नहीं है?

- नहीं होने पर तो पहली शादी भी गैरकानूनी है।

प्रमिला ने उनकी बातों को हंसकर टाल दिया था– शादी तो मंदिर में जाकर माला पहना देने से ही हो जाती है। ये भला गैरकानूनी क्यों हो!

मालकिन ने प्रमिला से एक दिन फिर पूछा, तुम सिंदूर क्यों लगाती हो?

प्रमिला ने कहा था, शादी हुई है, इसलिए लगाती हूँ।

- ये कैसी शादी है? पति के साथ केवल दो महीने रही। उसके बाद से प्रायः दो साल से अकेली हो। लड़की को भी खुद ही अकेली पाल रही हो। सिंदूर को पोंछ डालो।

- पोंछ डालो बोलने से ही तो पोंछ नहीं दिया जाता न। हिन्दू लड़कियों की शादी एक ही बार होती है। शादी होने के बाद सिंदूर-शाखा पहनना ही पड़ता है।

- किसने कहा एक बार ही शादी होती है? मैं तो हिन्दू हूँ, मेरे पहले पति के साथ रिश्ता टूट गया तो मैंने फिर से शादी की है।

- हमलोगों की जाति मैं ऐसा नहीं होता है।

- तुम्हारी जात क्या है, सुनूँ ज़रा?

प्रमिला ने कोई उत्तर नहीं दिया। मालकिन ने फिर से सवाल किये– तो क्या तुम पूरी ज़िंदगी अकेले ही रहोगी? हल्की-सी मुस्कान के साथ प्रमिला ने कहा– अकेली कहाँ हूँ? माँ-पिताजी हैं न।

- लेकिन माँ-पिताजी तो उम्रभर नहीं रहते न। उनके ना रहने पर?

प्रमिला फिर से हंस दी और बोली– प्रियंका तो है ना?

इस बार पूजा में मालकिन प्रमिला को एक अच्छी साड़ी देंगी, यह जानकर प्रमिला को बहुत ख़ुशी हुई। इसके बाद उसकी एक और ख्वाहिश है कि– 'आप जो सिंदूर लगाती हैं न, मुझे वही सिंदूर की एक डिबिया चाहिए'। मालकिन ने उसे लाल सिंदूर और लाल साड़ी दी

थी। दुर्गा पूजा में प्रमिला उसी सिंदूर को मोटा करके अपने माँग में भरकर निकल गई थी पंडालों में घूमने। उसकी ख़ुशी का ठिकाना नहीं था। ये कोई सस्ता सिंदूर नहीं है। यही सिंदूर उसकी मालकिन भी लगाती हैं। पांडाल देखते हुए उस भीड़ में ही न जाने कितने लोगों ने उसे भाभी-भाभी कहकर संबोधित किया था। कोई कहता– भाभी थोड़ी-सी जगह दीजिए, भाभी उधर जाइए उधर ज़्यादा भीड़ नहीं है, कोई कहता ऐ भाभी को बैठने दो, कुर्सी दो। छोटे-बड़े सभी उससे स्नेह करते हैं। यही स्नेह सभी से चाहती है प्रमिला। प्रमिला देखने में सुंदर है, रंग भी गोरा है। उसे देखकर कोई ये नहीं कह सकता कि वह दूसरों के घर में काम करती है। उसे देखकर सबको यही लगता है कि उसका पति हो सकता है आसपास ही है, वह आगे-आगे चल रहे होंगे, भाभी ही पीछे हो गई होंगी।

दूसरों के घर काम करने से न जाने कितनी ही गालियाँ खानी पड़ती है, ससुराल में भी गालियाँ खाती थी प्रमिला। आजकल माता-पिता के घर भी गालियाँ सुनती है प्रमिला। जबतक उसके माता-पिता को यह लगा कि एक दिन निताई आएगा प्रमिला को लेने तबतक उसके साथ अच्छा व्यवहार किया था उन्होंने, लेकिन जैसे ही उन्हें यह महसूस होने लगा कि अब निताई कभी नहीं आएगा उसे लेने, उसी दिन से प्रमिला उनके घर में एक अतिरिक्त सदस्य के रूप में समझी जाने लगी। प्रमिला अब उनके कंधे के ऊपर एक बोझ की तरह है। प्रियंका भी अब परेशान करती है, रोती है, सताती है। प्रियंका की देखभाल करनी पड़ती है इसलिए आरती भी अब पहले से कम घरों में काम करती है। काम कम, इसलिए पैसे भी कम मिलते हैं आरती को। उलाहनों का पहाड़ इकट्ठा हो गया है प्रमिला के लिए। इसलिए कहीं चैन नहीं है प्रमिला को बल्कि बाहर ही शांति मिलती है उसे। अनजान लोगों के बीच में ही शांति मिलती है। ई-रिक्शा के जितने ड्राइवर्स हैं वे सभी प्रमिला की देह के ऊपर किसी को बैठने तक नहीं देते। वे सभी भाभी का बहुत ख्याल रखते हैं। इनमें से किसी को यह पता भी नहीं कि पति के नाम पर असल में उसका कोई नहीं है। एकमात्र प्रमिला ही जानती है उसके सिंदूर का सच और निताई के साथ या किसी और के साथ का संबंध।

एक दिन उसकी मालकिन ने कहा– क्या रे अकेली-अकेली कैसे रहती हो तुम? आदमी तो चाहिए। कोई काम-भावना नहीं है क्या तेरे भीतर?

प्रमिला ने हंसकर कहा– काम-भावना क्या होती है, नहीं जानती! लेकिन हाँ किसी आदमी ज़ात पर अब मुझे कोई विश्वास नहीं है दीदी।

- कोई अच्छा लड़का देखकर शादी कर लो।

- क्या जो बोलती हो दीदी– हिन्दू लड़कियों की शादी एक ही बार होती है।

- तुमलोगों की यह शादी-ब्याह का झमेला मेरे तो पल्ले नहीं पड़ता जिसका न सिर है न पैर।

- दीदी आप जो कहती हो कि मैं कोई और लड़का देखकर शादी कर लूँ! कोई और लड़का भी निताई की तरह नहीं होगा, इसकी कोई निश्चितता है?

- मालकिन बोलीं– जीवन में किस चीज़ की निश्चितता है रे?

प्रमिला ने अपने सिर को छूते हुए कहा – वही तो! किसी भी चीज़ की तो निश्चितता नहीं

है। यहाँ तक कि ज़िंदगी की भी कोई निश्चितता नहीं है!

मालकिन ने इस बार गंभीर होकर प्रमिला से सवाल किये– यदि निताई तुम्हें वापस लेने आये या ससुराल से कोई और आये तुम्हें लेने तो क्या तुम जाओगी?

प्रमिला अपने सिर को छूती है, दायें-बायें देखती है और फिर एक ही बात कई बार दोहराती हुई कहती है– नहीं।

- कोई दूसरा आदमी यदि तुमसे कहे कि वह तुमसे प्रेम करता है, तुमसे शादी करना चाहता है, तो करोगी?

इस बार भी वह ज़ोर देकर कहती है– नहीं।

- कितने दिन और दूसरों के घर काम करके खा सकोगी?

- जिस दिन नहीं कर पाऊँगी तो प्रियंका खिलाएगी न! उसे तो स्कूल और कॉलेज में पढ़ाऊँगी।

इस बार प्रमिला के चेहरे पर तृप्ति की हंसी थी।

❖

तीन शहर : तीन मुलाकातें

माधव राठौड़

वह सिगरेट जलाता है चेहरा दमक उठता है। उसका मन हुआ कि इस पल को चूम ले।
वातावरण में नशीली गंध फैल रही है, संगीत जादू फैलाता है, लोगों के कदम थिरकने लगते हैं। वह उनके साथ शामिल होता है।

(ड्राफ्ट्स में सेव मुलाकातों का ब्यौरा)

वह मां बाप के सपनों से विद्रोह कर भागी हुई लड़की थी, हम सब की तरह। जिस तरह हम सब कभी हमारे मां-बाप के अमूल्य सपने थे। दरअसल, सपने तो उनके भी नहीं थे, वह भी उनके मां-बाप के मां-बाप के थे। उसके दादा आईएएस बनना चाहते थे, पर वह नहीं बन पाए। उन्होंने वह सपना उसके पिता में देखा। पिता आईएएस तो नहीं बन पाए पर आईएफ़एस बन गये। पिता ने दादा का सपना उसकी आंखों में डाला लेकिन वह भाग खड़ी हुई।

क्या आपके पिता ने भी सपना नहीं देखा था– डॉक्टर, इंजीनियर, आईएएस या जज?

आप न तो वह बन पाए जो वे बनाना चाहते थे, न ही वह जो आप बनना चाहते थे और आप जो हैं वो वह तो हरगिज़ नहीं बनना चाहते थे।

पर मेरे मुख्य पात्र ने यह तय कर लिया था कि इस तरह का वह कोई सपना नहीं देखेगी। वह जो है, वही बनी रहेगी।

कहने का मतलब उसने 'जो है' से जो 'होना चाहिए' का सपना नहीं देखा।

पर क्या होता है कि कई बार हमारे चाहने से चीज़ें नहीं होतीं, आप वह सब कर बैठते हो जो नहीं करना चाहते मसलन सपने देखना, प्रेम करना, ईर्ष्या करना।

वह मुझे एक टीवी चैनल के एक ऐड शूट में मिली थी। मेरी स्क्रिप्ट थी। वह असिस्ट कर रही थी। जब तक शूटिंग हुई तब तक साथ रहे। हम अच्छे दोस्त बन गये। वह प्रतिभाशाली थी। पिता आई.एफ.एस. थे तो पढ़ाई-लिखाई बाहर ही हुई। पिता उसे आई.ए.एस. बनाना चाहते थे, उसे हिंदुस्तान भेजा जबकि वह दुनिया देखना चाहती थी, खुद की नज़र से। उसने मास कम्युनिकेशन एन्ड जर्नलिस्म पढ़ा। डिस्कवरी जॉइन करके अलग-अलग देशों की स्टोरी

कवर की।

कुछ दिनों बाद समझते हुए महसूस किया कि वह भीतर से कहीं उदास है।

क्या ख़ालीपन है? गिरगाम चौपाटी की वह उदास शाम थी।

मि. राठौड़, मैं कुछ जगहों को कभी भरना नहीं चाहती, जीवन के कुछ खालीपन उसके भरे होने का एहसास दिलाते हैं कि उस जगह का भरापन कभी आपके लिए कितना महत्वपूर्ण था।

क्या कोई सपना अधूरा रह गया?

"नहीं।"

तो?

जीवन में कई बार सपनों को गाँठें लगा दी जाती है या फिर उसे इस कदर बींध दिया जाता है कि उम्र भर उसके पास जा नहीं सकते। गहरी नींद में बिना सपने के कराहना रेगिस्तान में प्यास से तड़पते हिरण की तरह है।

"तुम अपना दुख मेरे साथ साझा क्यों नहीं करती, दुख साझा करने से हल्के हो जाते हैं?" मैंने रग पर हाथ रखा।

कतई नहीं, दुख साझा करने से हल्के नहीं भारी हो जाते हैं, मि. राठौड़। वह दो कदम आगे थी।

फिर भी क्या दुख है?

"मैं दुखी हूं" कहने से तुम उस स्तर से दुःख को शायद ही समझ पाओगे इसलिए अच्छा यही है कि यह सवाल यहीं गिर जाए। चलो आज की शाम का स्वागत करते हैं।

जीवन में ऐसे कई सवाल हैं जो ठीक-ठाक जवाब कभी नहीं लाते, मसलन– क्या तुम खुश हो, तुम कैसी हो, क्या तुम्हें अब भी मेरी याद आती है?

हम शाम का स्वागत करने "होटल सी-फेस" में बैठे थे। हमारे आने से पहले ही लम्बे फैले हुए समंदर पर शाम उतर चुकी थी।

काँच के उस पार, हम दोनों समंदर को देख रहे थे। वो चुप थी।

असल में, हमारे भीतर की चुप्पियाँ हमारे जीवन की चिठ्ठियां हैं जिसे पढ़ने के लिए एक गहरे इंतजार और अवकाश की जरूरत रहती है। यह अभी दूसरा पैग था, थोड़ा और ठहरना चाहिए।

वो धीरे से खुलने लगी। कुछ कहा कुछ अनकहा रहा।

जो बाकी रहे आपको मेल कर दिए हैं होटल जाकर आराम से पढ़ लेना। उसने पांचवा पैग रिपीट किया।

भीतर के दुख साझा कर इंसान हल्का नहीं होता बल्कि ख़ालीपन से भर जाता है। डिनर के वक्त उसके चेहरे पर ख़ालीपन था।

मैं देर रात घर लौटता हूँ लैपटॉप पर मेल से ड्राफ्ट्स खोलता हूँ।

पहला शहर : पहली मुलाकात

"बदला कुछ भी नहीं।

देह आज भी कांपती है उसी तरह
जैसे कांपती थी
रोम के बसने के पूर्व और पश्चात्।
ईसा के बीस सदी पूर्व और पश्चात्
यातनाएं वही-की-वही हैं
सिर्फ़ धरती सिकुड़ गई है
कहीं भी कुछ होता है
तो लगता है हमारे पड़ोस में हुआ है।"
- शिम्बोर्स्का

जगह : ब्यूनस आयर्स, अर्जेंटीना की राजधानी

बेहद खूबसूरत देश। अक्टूबर के दिन हैं।

थोड़े दिनों बाद भारत के प्रधानमंत्री जी 20 को अटेंड करने आएंगे। दोनों देश चाहते हैं आर्थिक मसलों के अलावा सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हो।

अर्जेंटीना से 1942 से भारत के संबंध हैं। इंडियन एंबेसी चाहती है अर्जेंटीना में बस रहे सिंधी समुदाय पर उनका टीवी चैनल स्टोरी कवर करे। इसी सिलसिले में वह यहाँ आई है।

भारत और अर्जेंटीना के बीच सम्बन्धों को लेकर काफी कम लिखा गया है। वह इस किताब स्टोर में कुछ किताबें तलाशती है।

"आप क्या देखना चाहते हो?

"मुझे कुछ सोशीओ-पॉलिटिकल बुक्स चाहिए"।

"उस तरफ" वह इशारा करता है।

काफी देर तक किताबें देखती रहती है।

"फिक्शन ज़ोन किस तरफ है?"

"क्या मैं आपकी मदद कर सकता हूँ?" उसने स्पेनिश में कहा।

"मुझे कुछ पोएट्री की भी किताब चाहिए"

"यह देखें– शिम्बोर्स्का, नेरूदा, जगायेव्स्की, यह सब मुझे प्रिय हैं"– उसने मुस्कुराते हुए कहा

जरूरी है क्या, आपको जो प्रिय है वह मुझे भी पसंद आए?

"अक्सर, जो अच्छा है वह यूनिवर्सल अच्छा होता है इसलिए हम सब को एक जैसा संगीत, सिनेमा और साहित्य पसंद आता है।

वह बड़ा इंटरस्टिंग था, खूब बोलता था, शायद वह चाहता था कि मैं दो चार किताबें और खरीद लूँ।

"उपन्यास में कुन्द्रा को पढ़ना पसंद करोगे?"

"यह प्रूस्त की किताब है और यह मार्केज– रहस्यमय यथार्थवादी"

"मुझे ओरहान पामुक का 'स्नो' दिखाओ"

सॉरी वो अभी नहीं है, आप 'इस्तांबुल' देख सकती हो।

आप इंडियन है?

येस।

मैंने देख रखा है इंडिया।

अच्छा क्या-क्या?

ताज– सिंबल ऑफ लव और गंगेज– सेक्रेड रिवर।

वाह! आप इंडियन को पसन्द करते हो?

बहुत ज्यादा, हमारे देश का अच्छा मित्र देश है इनके पीएम इस देश में आने वाले हैं। इनकी एम्बेसी गांधी और टैगोर पर प्रोग्राम करवाती रहती है, मैं जाता रहता हूँ।

अच्छा तो आप यहीं से हो?

"हाँ, पर मेरे मां बाप इजराइल से हैं।" उसने धीरे से कहा।

यहां कब से?

1966 में माता-पिता इजरायल-सीरिया तनाव के समय आ गए थे कुछ राजनैतिक कारणों से।

इजरायल जाते हो?

हाँ?

लेक टिबेरियस देखी?

अरे वो तो हमारी पवित्र नदी है ब्रह्मपुत्र की तरह

"अरे वह ब्रह्मपुत्र नहीं गंगा है" ठीक करते हुए बोली।

"लो-सीयेनतो मेरा मतलब सॉरी"

कोई नहीं, क्या तुम मुझे शहर के बारे में बता सकते हो विशेषकर भारतीयों के बारे में?

अभी तो नहीं हम शनि या रवि को मिल सकते हैं।

यह मेरा होटल का एड्रेस है और यह नंबर।

उसका नाम सेम्युअल था।

उसकी नजर से उसने राजधानी को देखा। अर्जेंटीना का संगीत, फुटबॉल का जादू, खाना, वाइन सब कुछ।

आपको पता है यहां सरकार अब बच्चों के नाम मैसी नहीं रखने देती?

वाओ, ऐसा क्यों?

इतने अधिक हो गए थे कन्फ्यूज़ हो जाता तो रोक लगा दी।

"इंटरेस्टिंग फैक्ट"

वह काम निपटाने के बाद रात को सैमुअल के साथ शहर को देखने निकल जाती।

वह अपने मां-बाप से अलग रहता है। देर तक अर्जेंटीना की फूड, वाइन, नाईट लाइफ, इंडियन योग और आयुर्वेद पर बातें करते हैं।

वाइटेस्ट एवेन्यू मैन स्ट्रीट : राजधानी की मुख्य जगह

तुम्हारा पसंदीदा लेखक कौन है?

पहले दिन बताया था न– शिम्बोर्स्का।

कौन-सी किताब?

"पीपल ऑन द ब्रिज"

कोई एक कविता?

"अचानक मुलाकात"

कुछ पंक्तियां सुनाओ न

"हम मिले
बड़े सलीके और शिष्टाचार के साथ।
हमने कहा– कितनी खुशी हुई
आपको इतने सालों बाद देखकर!
पर हमारे भीतर थककर सो गया था बहुत-कुछ।"

कितनी उदासी भरी है यह कविता।

बीच में सन्नाटा पसर गया। वे देर तक बाहर देखते रहे।

उसे यहां 2 सप्ताह बीत चुके हैं। सिंधी समुदाय बहुत कम है। काफी उसने कवर कर लिया है। हालांकि सिंधी समुदाय ने अपनी आइडेंटिटी तो नहीं छोड़ी लेकिन देश छोड़ने के बाद कितना कुछ छूट जाता है, काफ़ी कुछ एक्लिप्स हो जाता है, देश बदलने के साथ। कल वह इंडियन एंबेसी जाएगी, उन्हें दिखाकर रिपोर्ट फाइनल करेगी।

समय :- "रात के ढाई बजे"

वह जाग चुकी है, हालांकि जागने से रात दिन नहीं हो जाता लेकिन जागने से रात का सौंदर्य जरूर कम हो जाता है।

वह फ्लैट के बाहर देखती है। वह इस वक्त सो रहा होगा। वो कुछ दिनों बाद भारत लौट जाएगी।

वह मैसेज में टाइप करती है शिम्बोर्स्का की कविता की लाइन– "अपनी स्मृतियों के लिए मैं बुरी श्रोता हूँ।"

"औऱ तुम चाहती हो उसकी लगातार आवाज सुनना" उधर से भी उसी कविता में जवाब आया।

उसने फिर कविता की लाइन लिखी–

"वह मेरा पूरा समय और तव्वजो चाहती हैं
मेरी नींद पर उसे कोई आपत्ति नहीं
पर नींद एक दूसरा विषय है
जो उसे नाराज कर देता है।"

उसने जवाब दिया- अरे! मैं जाग रहा हूँ।

"सुनो, मैं कुछ दिनों बाद अपने देश चली जाऊँगी।"

उसने कुछ वापसी रिप्लाई नहीं दिया।

बाहर रात का सन्नाटा और भीतर भी।

देर तक वह इंतजार करती है।

"क्या हमारे बीच कुछ था?" वह टाइप करती है।

"यह तुम ही बताओ?" उसका जवाब था

"क्या तुम मिलना चाहोगे जाने से पहले?"

"शायद नहीं"। उधर से जवाब था

वो तड़प उठी। यह यहूदी इतना एटीट्यूड दिखाता है।

"मैं तुम्हारे साथ अंतिम बियर पीना चाहूँगी"

"और मैं उस वक्त तुम्हारी गर्दन की ठीक पीछे गहरा लम्बा किस करना चाहूंगा।"

रिप्लाई पढ़ वह भीग गई।

लौटने से पहले उसने पहला टेटू बनाया था -

कान के ठीक पीछे, उस जीयूज की याद में,

उन दोपहरों की याद में जो उसके साथ येर्बा माते चाय पीते हुए बिताई थी,

उन थकी हुई शामों की याद करते हुए जो बीती थी कैफे तोरोटोनी के बाहर,

उन रातों की याद में जो मद भरी बिताई थी उसके साथ उसके फ्लैट पर।

कुछ दिन बाद फ्लाइट में उड़ते हुए वो शिम्बोर्स्का को पढ़ती है–

"जिनको सच्ची मोहब्बत कभी नसीब ही नहीं हुई
उन्हें बड़बड़ाने दीजिए कि ऐसी कोई चीज़ ही नहीं होती
बस, उनका यही यक़ीन
उनके जीने-मरने को आसान बना देगा।"

दूसरी मुलाकात

"रात के परदे में है वो छिपा हुआ गवाह
दिन भला बराबर में है कब रात के
सोना चाहेगा नहीं, नींद से करे गुरेज़
जो कि देखे नहीं उसने तमाशे रात के।"

वह रूमी को पढ़ रही है, अगले हफ़्ते उसे तुर्की जाना है। तुर्की के कोन्या शहर में वह एक स्टोरी कवर करने–

भारत और तुर्की के बीच सूफ़ी सम्बन्ध :- कल्चरल ओवरलैपिंग।

उसे वह यहूदी याद आता है। वह तय करती है इस बार शिम्बोर्स्का को रूमी से ओवरलैप नहीं करेगी।

"क्या हमारा तय किया हुआ तय रहा।" उसने डायरी में टांक दिया

शहर कोन्या, तुर्की

वह निहायत ही सुंदर था। इतना सुंदर कि उसे देखते ही ईमान फिसल जाए। जब उसने अपना चश्मा आंखों से हटाया तो सारी खूबसूरती उसकी आंखों में उतर गई।

एक रुमानी छोटा-सा शहर। इस छोटे शहर में यह खूबसूरत इंसान।

किसी अनजान देश के कहवा घर में बैठकर किसी को इस तरह तकना निहायत बेवकूफी भरा माना जा सकता है। वह नजरें फेरती है लेकिन जैसे ही टकराती है एक संगीत पैदा करती है।

अंकारा में किसी ने बताया था इस बारे में दानिश मदद कर सकता है।

ढीला वी-नेक टी शर्ट, जींस, ब्राउन शू, हल्की दाढ़ी। वह कैफे के कोने में लगी दीवार के पास बैठकर किसी से बातें कर रहा था।

तुर्की की कड़वी कॉफी के साथ लोकुम स्वीट का पीस मुँह में रख सोचती है– अगर उसके पास ऐसी आंखें होतीं तो जरूर इस्तेमाल करती– वह इंतजार करती हुई अपने मन की कुटिलता पर मुस्कुराती है।

आपका चेहरा हिंदुस्तानियों जैसा लगता है?" एक दिन उसने पूछा

"मैं हिंदुस्तानी ही हूं"

"वाह! हिंदुस्तान में कहां से?"

"पाकिस्तान से।" वे दोनों हँस पड़े।

उसे पहली बार लगा पाकिस्तान कितना हिंदुस्तान है।

वह हँसता हुआ बेहद मादक लगता था। खूबसूरत लोगों का इस तरह सार्वजनिक हँसना गैर कानूनी होना चाहिए।

पाकिस्तान में कहाँ से?

गिलगित से।

"अच्छा"

दीवारों के पीछे इस शहर का रूमानी संगीत गिर रहा है, मद्धम रोशनी के साथ। सांझ ढलने को है लोग खाने व खरीदारी के लिए निकले हैं। लगता है पूरा शहर गलियों में उतर आया हो।

"यहां कैसे आए?"

"मेरे दादा गिलगित-बल्तिस्तान के स्वायतता की मांग का समर्थन के लिए इन अरब देशों में निकले थे। शुमाली इलाक़े में उन पर नजर रखी जाने लगी तो यह लोग अलग-अलग देशों में बस गये।

वालिद को सूफिज्म भाता था तो इस्तांबुल छोड़ रूमी के इस पवित्र शहर में बस गये।

"तुम्हें क्या भाता है?"

"उदास सांवली लड़कियां"

चल झूठे– उसने मन में ही कहा।

"इस देश में कहां हैं सांवली लड़कियां?" उसने कहा।

"तभी तो मुझे स्मिता पसंद है"

"अरे मेरा मतलब था तुम्हारे क्या शौक हैं?"

"मुझे सिनेमा देखने का शौक है।"

"किस तरह का सिनेमा?"

"ऐसा सिनेमा जिसके पात्र अभिशप्त चुप्पी लिए हुए अपने जीवन के बारे में सब कुछ कह

देते हों।"

"तब तो तुम्हें हिंदुस्तान का सिनेमा देखना चाहिए।"

"वह तो कब का देख चुका हूँ, वहीं से तो स्मिता मिली थी।"

"इसके अलावा?"

आकी काऊरिसमाकी का सिनेमा– "द मैन विदाउट फास्ट"

उस फ़िल्म का एक डायलॉग है जिसे मैं जिंदगी में एक बार किसी लड़की के मुँह से सुनना चाहता हूँ।

वाओ, कौन-सा डायलॉग?

क्या मैं तुम्हारी जीवन में आ सकता हूं?

और वह जवाब दे– नहीं, मैं पहले से ही बर्बाद हो चुकी हूँ।

तुम्हें संगीत कैसा पसन्द है?

जो रुह में उतरता हो

सीधा कहो न सूफ़ी।

बेशक़, रूमी अफगान में पैदा हुए, इस शहर में दफ़न हुए। ईरान इराक से सूफिज्म खैबर-पख़्तूनख्वा के वाखान गलियारे से होता हुआ मुल्तान और पंजाब होते हुए हिंदुस्तान में फैला था–चाहे हाजी अली हो, निज़ामुद्दीन हो या ख़्वाजा चिश्ती हो।

वे देर तक बातें करते रहे।

उसे लगा वह ठीक आदमी के पास पहुँची है।

हर दूसरे तीसरे दिन यहां आती, जो जानना होता वो पूछती।

उसे जो लिखना होता वह लिखती, नहीं तो उसे कॉफी पीते हुए तकती रहती।

वह लैपटॉप ऑन करती है। आर्टिकल लिखना शुरू करती है।

"किसी देश की संपन्नता का पैमाना उसकी जीडीपी नहीं होती बल्कि उस देश के खूबसूरत लोग होते हैं जिनके चेहरे पर ईश्वर की हँसी फैली हुई होती है।"

वह इस पंक्ति को लिखते हुए भी चार बार उसे देख चुकी थी।

वह उससे सूफिज्म की बारीकी जानने का प्रयास करती।

सूफ़ी स्कूल, परम्परा, जगहों प्रतीकों के बारे में। वह रुमी के मसनवी सूफी परम्परा पर लिखती। गिर्दानी दरवेशों की परंपरा के एशिया में फ़ैलाव पर लिखती।

सूफ़ीज्म दो शेड्स में पूरे विश्व में फैला हुआ है–

बा-सारा जो इस्लामी कानून में विश्वास करते हैं और बे-शर जो इस्लामिक कानून में विश्वास नहीं करते हैं।

"वाओ! तुम बड़े रहस्यमय आदमी हो"

"औऱ तुम बड़ी एंटीगनी हो, जो हर जन्म में अपने विधाता से विद्रोह कर अपना ही जीवन खो देती है।"

"मुझे पीड़ा में ही सुख मिलता है।"

"तुम आत्मपीड़क हो, खुद को ही तोड़ती हो फिर बुनती हो।"

"क्या तुमने मरने का प्रयास किया जीवन में? उसने कॉफी का अंतिम घूँट पीते हुए कहा।

यार, हर कोई यह सवाल तो जरूर पूछता है कि क्या तुमने जीवन में प्रेम किया, कितने लोगों के साथ सेक्स किया?

लेकिन इस तरह का सवाल तो...

आप तो जवाब दीजिए बस। वह गम्भीर हो चुका था दो बार।

सेक्स के बारे में क्या ख्याल है?

अरे पहले यह तो पूछते– प्यार के बारे में क्या ख्याल है?

यह अमूर्त चीज है, मैं कोई कवि नहीं, इसलिए इसके बारे में कोई ख्याल नहीं रखता, मैं व्यापारी हूं भौतिक चीजें मेरे लिए मैटर करती हैं।

देह माध्यम है– उसने जवाब दिया।

चलो यह बताओ प्यार तो देह को ही करते हो ना या उसके भीतर की आत्मा को?

"आत्मा को।" वह जानना चाहती थी कि अब अगला सवाल क्या होगा।

जिस आत्मा को आपने देखा नहीं तो कैसे प्यार कर सकती हो, अभी आप मेरे सामने बैठी हैं आपको देखकर कह सकता हूँ आपका चेहरा स्मिता जैसा लग रहा है।

हाँ, यह भी ठीक है।

देह को महसूस कर सकते हो ना?

सही कहा।

तो बताओ सेक्स के बारे में क्या ख़याल?

मेरे लिए सेक्स का मतलब उस घड़ी में स्त्री थोड़ी पुरुष बन जाए पुरुष थोड़ा स्त्री बन जाए।

वह घड़ी देखती है रात ढल चुकी है उसे स्टोरी भी मेल करनी है। वह उठती है।

कल हम किसी रेस्त्रां में चलें? यह प्रस्ताव उसका था

"बिल्कुल" वह चल देती है।

उस दिन उसने डायरी में लिखा–

प्रेमी कभी नहीं लौटते, प्रेम लौटता है। हर दूसरा प्रेमी पहले प्रेमी का प्रतिरूप होता है। मन दिलासा देता है दुख को किसी कांधे पर रखने के लिए, तभी तो प्रेम कहीं नहीं जाता वह बना रहता है 60 पार भी।

दूसरे दिन होटल से निकलकर सीधे ऑफिस पहुंची।

धूप से खुला हुआ शहर। लगता है धूप शहर को ज्यादा खूबसूरत बना रही है। खुला आसमान, साफ हवा, खुला शहर।

जैसे व्यक्तियों का स्वभाव होता है, हम इमेज बनाते हैं ठीक वैसे ही शहरों की एक इमेज बनती है।

यह वे लोग अच्छी तरह से समझ सकते हैं जो इस तरह की यात्राएं करते हैं।

जो किसी शहर को देखते हुए केवल उसके स्थापत्य कला, लोगों को, भोजन को ही नहीं देखते बल्कि उस शहर की आत्मा तक पहुंचते हैं।

पूरा दिन काम करती रही। 5 बजे मैसेज में रेस्त्रां का एड्रेस था।

यह जगह शहर की आत्मा थी। साँझ के वक्त सारा शहर यहीं उतर आता है, जैसे सांझ होते हैं उतर जाते हैं योगी ध्यान में। मस्जिदों के इस शहर में चारों तरफ उठती अजान की आवाज। वह दूसरी गली क्रॉस कर उसके बताये अड्रेस वाले रेस्तरां के बाहर बैठ जाती है। लोग धीरे-धीरे जुट रहे हैं।

वह ड्राफ्ट्स में लिखती है– "स्त्री के हिस्से में इंतजार आया।"

रेस्त्रां शराब की गंध से महक रहा है, जैसे सन्ध्या को किसी ने गूगल-धूप जला दिया हो।

उसने मन ही मन तय किया आज अंगूरों के शहर की फेमस रेड वाइन पीयेगी।

आज फिर फॉर्मल ड्रेस में आया है– खींचता हुआ आकर्षण, लंबा कद, ढीली चाल, जैसे मद भरा हाथी चल रहा हो।

वह मुस्कुराता है– हम आज क्या लेंगे?

"रेड वाइन।"

"ओके, रेड वाइन पेयरिंग विथ व्हाइट बर्गण्डी" वह आर्डर करता है।

इस तरह की बेहतरीन वाइन पेयरिंग पीते हुए उसे कई रातें याद आती हैं, कई शहर, कई लोग और उनकी यादें।

"शराब पीने के सलीके होते हैं, शराब किस तरह पिलाता है उससे तय होता है मेजबान कैसा है।" उसे किसी दोस्त ने कभी बताया था।

वे दोनों इधर-उधर की काफी बातें कर चुके हैं। वह सब कुछ जानना चाहता है।

तुम सवाल बहुत करते हो, मुझे लगता था मैं ज्यादा सवाल करती हूं?

"मुझे मजा आता है लोगों को सुनने में" उसने गिलास खाली करते हुए वेटर को इशारा किया।

गिलगिट के लोग पाकिस्तान से अलग क्यों होना चाहते हैं? उसने सवाल किया।

असल में, किसी देश में आपको देश की फीलिंग तब आती है जब उस देश के लोग आपको बराबर समझे, साथ ही सांस्कृतिक विविधता का सम्मान भी करें।

"अरे वहाँ तो सब मुसलमान हैं फिर क्या विविधता?" उसने बचकाना सवाल पूछ तो दिया पर अब वापस कैसे ले।

"बात मुसलमान होने की नहीं है बात है हमारी संस्कृति की। हम बलोच उनसे कई मायनों में अलग है, हमारी अपनी आइडेंटिटी है। उसका वहां सम्मान नहीं है।"

गिलगट-बलोचिस्तान पर पूछना तो वह काफी कुछ चाहती थी, पर उसे लगा यह वक्त सही नहीं है।

मेहाने में काफी शोर है। रात और महफिल जम चुकी है। लोग खुल रहे हैं अपने खींचे हुए तनाव से। मुक्त हो रहे हैं ऑफिस के दबाव से। वाइन उन की नसों को ढीला कर रही हैं। मेहाना अब असल मैकदा बन चुका है।

वह सिगरेट जलाता है चेहरा दमक उठता है। उसका मन हुआ कि इस पल को चूम लूँ।

वातावरण में नशीली गंध फैल रही है, संगीत जादू फैलाता है, लोगों के कदम थिरकने लगते हैं। वह उनके साथ शामिल होता है।

उसने भी सिगरेट जला ली। सिगरेट पीते हुए उसे नाचते हुए देख रही थी।

लग रहा था कि देह नहीं आत्मा नाच रही हो।

वह चाहती थी उस नाच में खुद समाहित हो जाए।

संगीत तेज हो गया, कदम थिरकने लगे, साँसें और धड़कन भी।

उसने उसका हाथ पकड़कर ताल में ताल मिला दिया।

नाच इस पृथ्वी का अपने अक्ष पर वर्तुल घूमना ही है। टर्किश बेले डांस तो नाभि से उठती हुई कुंडलिनी है। नाचते हुए उसे छूती है। पहली बार एक गंध महसूस होती है। उसे लगता है– वह इश्क में है। यह देह की नहीं इश्क की गंध है।

एक भीगी-भीगी गंध उसके दिल में उतर रही है यह संगीत का या रेड वाइन का या वातावरण का नशा नहीं– इश्क है मेरे मौला।

हम चले? वह कान में कहता है

कहां?

"मेरे ऑफिस" उसकी आंखों में सुरूर था।

"हां बिल्कुल।" वह भीतर से नाच उठती है।

वह उसकी देह पर अपनी अंगुलियों को रगड़ रही है। अंगुली जैसे पेंसिल हो और देह मानो कागज।

वो उकेरना चाहती हो किसी फिल्म का एक दृश्य– जो हमेशा के लिए ठहर जाए उसकी बड़ी आँखों में।

अंगुली की पोर से उस दृश्य के रचाव को पोज करती हुई उसके लाल होठों को चूमने लगती है जैसे तितली रस पीती हो।

उसका सिर उसके वक्ष पर झूल जाता है जैसे इन "सिटी ऑफ सिलविया" का नायक पूछ रहा हो– क्या तुम ही स्मिता हो।

वह देर तक उसे चूमता रहता है। उसके बिम्ब इतने ठहरे हुए हैं वह आगे नहीं बढ़ता। वह ठहरा हुआ है। वह चाहती है फास्ट फॉरवर्ड हो जाए।

वह उसे चूमना छोड़ बगल में लेट जाता है

रुक क्यों गए?

देह से परे आत्मा है, आत्मा की प्रकृति को जाने बिना मैं उसमें कैसे उतर सकता हूं?

वह धीरे से अपना पाँव हटाती है।

कुछ जलकर राख हो गया।

अंगार अभी भी भभक रहा है, पर धीरे-धीरे, उस पर राख जम रही है।

उसके माथे पर एक ठंडा चुम्बन देता है।

उस वक्त काफ्का याद आता है– इस घड़ी मेरे माथे पर अपना हाथ रख दो।

वे उतर नहीं सके। दृश्य वहीं थम गए। उसकी बाँह पर तिल है वह चूमती है और चल देती है।

दूसरे दिन उसने पहला टैटू बनाया अपने वक्ष पर– एक तितली।

यह अलसाई दोपहर है।

धूप आज ठीक से खिली नहीं है। वह कॉफी कैफे में आउटडोर में बैठकर देर तक कॉफी पीती है। चुप्पी... चुप्पी की चादर जमी हुई है। वह चाहती है, वह बाहर आए तो कोई बात करें।

हमारे दुखों के साथ शहर भी गहरे शोक में डूब जाते हैं। अब शहर उसे इतना आकर्षक नहीं लग रहा है। शाम फिर घिर आई, लेकिन उस साँझ जैसी कहाँ? क्या बीती हुई शाम फिर से नहीं लौटती। नहीं, शायद लाओत्से ने कहा था एक नदी में दुबारा उतर नहीं सकते। ठीक इसी तरह बीती हुई शामें कभी लौटती नहीं।

वह उससे बात करना चाहता है। पर वह अधूरा-सा फील करती है। कुछ अटका हुआ। वे दो चार बार और मिले पर मिल नहीं पा रहे थे। वह दानिश को देखती है। उसकी आंख में पानी है।

उसे अपनी डायरी याद आती है– "क्या हमारा तय किया हुआ तय रहा।"

वह खुद को समेटती है। नहीं वह इस आंख से यह सपना नहीं देखेगी। वहां से चल देती है।

वह सप्ताह भर पहले ही लौट आती है। दिल्ली एयरपोर्ट से निकलते हुए आइपॉड लगाती है।

रुमी को सुनती है -

जिस घड़ी को तू हुआ है
मुझसे जुदा
रह गया है जैसे मोम शहद के बिना
अबकी बस कंदील-सा
गलता जाता हूं आतिशे-इश्क में
महरूम होकर, मोहब्बत से तेरी।

तीसरी मुलाकात

जापान की मॉनेस्ट्री

कहने को तो वह इस शहर में एक स्टोरी कवर करने के लिए आई थी- ज़िज़ेन :- फ्रॉम बुद्धा टू रिन्ज़ी ज़ेन"

असल में वह एक ब्रेक चाहती थी, खुद से, एक भीतरी टूटन से।

"प्रेम आपको तोड़ता है। कभी कहीं पढ़ा था।

नहीं, शायद उसने कहा था।

प्रेम आपके अहम को तोड़ता है, आपकी इमेज को तोड़ता है। वह अक्सर कहता था।

उसके जाने के बाद उसकी किरच से वह भीतर तक छिल गई थी।

इसलिए इस स्टोरी को कवर करने के लिए उसने हां कर दी।

असल में वह स्टोरी के बहाने ज़िज़ेन मेडिटेशन करने को आई थी।

उसे पता था यात्रा उसे फिर से समृद्ध करेगी भीतर से और बाहर भी।

फ्लाइट में लॉरेंस डरेल को पढ़ रही है– यात्रा केवल बाहरी स्पेस में ही नहीं ले जाती बल्कि अज्ञात जगहों पर ले जाती है जो ठीक हमारे भीतर है।

वह डायरी में दर्ज करती है– "यात्रा सिर्फ दो शहरों को नहीं जोड़ती बल्कि दो लोगों को भी जोड़ती है।"

जिला मुख्यालय से दूर यह ज़ेन मॉनेस्ट्री है।

मोंक को स्टेशन से निकलते ही हल्का अंधेरा हो चला था।

वैसे भी पहाड़ी शहर जल्द अंधेरे में घिर जाते हैं।

एक गहन अंधेरा उसके भीतर भी उतर आया।

अंधेरे के फैलने से पहले उसे जल्दी आश्रम पहुँचना है। मॉनेस्ट्री से मोंक लेने आया है।

पहली बार अपलक नहीं हो रही थी, किसी मर्द को देखकर, पर इस तरह निर्निमेष पहली बार हुई थी।

उसके सवाल का जवाब दिए बिना, उसकी आँखों में झांकते, उससे पूछना चाहती थी– "क्या तुम्हें पता है तुम कौन हो?"

वही चेहरा, वही आंखें। ठहर गई। याद में, स्मृति में। मास कम्युनिकेशन के अंतिम सेमेस्टर की क्लास में कहा था– तुम इंजीनियर जैसे नहीं लगते हो, तुम्हारा चेहरा योगी-सा लगता है

वह दिन और आज का दिन उसके जैसा ही यह मोंक।

चलते रास्ते में बताता है– पिछले 4 साल योग में ही बिताये। कठोर तप। शरीर को साधा। बर्फ में, गर्मी में, बारिश में। हर जगह, हर मौसम में। अब यहां दो साल ज़ेजेन के साथ तंत्र को साधेगा।

वह दो सप्ताह तक अलग मॉनेस्ट्री में घूम कर बुद्ध को ज़ेन की नजर से समझती है। बुद्ध बिहार से बाहर नहीं गये। बुद्ध का विचार चीन होते हुए एशिया में फैला, फिर धीरे-धीरे पूरे विश्व में।

इस मॉनेस्ट्री में दस मोंक हैं 20 विद्यार्थी जिनमें 4 लड़कियाँ हैं। चार जर्मन हैं, दो अमेरिकन बाकी सब जापानी। सुबह चार बजे से आठ बजे तक गहरा लम्बा ध्यान होता है। फिर ब्रेक फ़ास्ट। दिन में खेती करते हैं। चावल उगाते हैं। सर्दियों में भारी बर्फ़ गिरती है तो लकड़ियाँ काट कर एकत्र करते हैं।

तुम यहाँ कब आये? लकड़ी चीरते मोंक की मांसल देह को देखते हुए पूछती है।

6 महीने।

मोंक से पहले क्या थे?

सिलिकॉन वैली में एथिकल हैकर था।

इतना अच्छा जॉब छोड़ मोंक क्यों बने।

मेरा सब ठीक चल रहा था, पर रात को सोते वक्त लगता कुछ गायब है। भीतर के उस ख़ालीपन को भरने के लिए सब प्रयोग किये तब मुझे एक किताब मिली– "इन द सर्च ऑफ मिरेक्युलस"

उस दिन के बाद से अभी तक उस मिरेकल की सर्च में हूँ।

बुद्ध बिहार से बाहर नहीं गये। अप्पो दीपो भव का विचार चीन होते हुए एशिया में फैला,

फिर धीरे-धीरे पूरे विश्व में।

शाम को लेक्चर होता फिर संवाद। रात को हल्का खाना या फिर उबली हुई सब्जियाँ और सूप खा कर जल्द सो जाते।

बुद्ध ज़ेन तक पहुंचते पहुँचते कितने बदल गए। बुद्ध आलोकतेश्वर बन जाते हैं। वो सोती हुए सोचती बुद्ध, ज़ेन, लाओत्से, रूमी। रूमी से उसे वह याद आ गया।

"देह से परे आत्मा है, आत्मा की प्रकृति को जाने बिना मैं उसमें कैसे उतर सकता हूं?"

बुद्ध ने आत्मा को माना। मन फिर मोंक पर आकर ठहर गया। जब तक साथ रहे, उसे लगा मोंक खींच रहा है उसे।

कल सारे विद्यार्थी अपना कोर्स पूरा करके वापस जाएंगे। मोंक उन्हें स्टेशन छोड़ने चलेगा। उसकी ट्रैन कल सुबह है। स्टेशन के करीब होटल में रुक जाती है।

देर हो गई है आप भी रुक जाओ कल निकल जाना। उसने मोंक को प्रस्ताव दिया।

मोंक ठहर गया, एक योगी बिंदु पर।

मैं तुम्हारा मन देखना चाहता हूं?

क्यों?

मैं झांकना चाहता हूं, उसके भीतर दर्ज चुप्पियों को।

मत आओ इस झांसे में, चले जाओ, किसी के मन के भीतर देखने का मतलब अपने को छीलना होता है।

नहीं, मैं उस देह की आत्मा को देखना चाहता हूं– योगी तप्त हो चुका था।

तुम जाओ यहां से, तुम मुझे सपना दिखाते हो मैं नहीं चाहती उस सपने को फिर से देखना। मैंने तुम्हारा ध्यान भटकाया। यह लत मत लगाओ, मैं मेरी लत में ही रहना चाहती हूं।

उसने फुसफुसा कर उसके कान में मंत्र कहा–

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव अभिवर्तते।"

धीरे से उसकी कान की बाली को छूते हुए उसकी गर्दन पर बोसा रख दिया

दिन चढ़ता रहा। वह अधमुंदी-सी लेटी रही। खिड़की के उस पार पेड़ों पर किरणें गिर रही थीं। वह बालकनी में ध्यान कर रहा है।

उसकी पीठ पर रात की खरोंचें।

क्या उसके मन पर भी लगी होंगी इस तरह की खरोंचें?

सच में, ध्यानी भ्रष्ट हुआ प्रेम में?

ध्यानस्थ की पीठ को इस तरह देखना एक अश्लीलता है।

वह करवट बदलती है। टेबल पर उसके कपड़े पड़े हैं, पास ही रेड वाइन की आधी बोतल, दो गिलास, कुछ ड्राई फ्रूट्स।

उसका मोबाइल चार्जर-पॉइंट पर है। वह छूती है, उसे स्क्रीन पर वॉलपेपर दिखता है–

Kalopsia—the delusion of things being more beautiful than they really are

तकिये के नीचे किताब है। डेट्राइट की दुन्या मिखाईल की किताब– "इन हर फेमिनाइन

साइन"

एक कविता खुलती है–

"सब बच्चे कवि होते हैं, जब तक कि वे आदत छोड़ नहीं देते,

उन तितलियों को पकड़ने की जो वहां नहीं होती"

दूर स्टेशन से छूटती हुई ट्रेन की आवाज आती है। उसे आज लौटना था, मगर दो दिन रुकना चाहती थी।

रुकना या किसी ने रोक दिया? उसके मन को साध लिया है क्या इसने? यह सोच वह अचानक हड़बड़ा कर उठती है।

तन पर एक भी तिनका नहीं। खुद को इस तरह देख लजा गई भीतर से।

चादर को लपेटे कांच के सामने खड़ी होती।

बायें वक्ष के ऊपर एक टैटू है।

टैटू बनाने वाले ने पूछा था– क्या बनाऊँ?

उसने उस मिस्ट्रीरियस मेन को याद करते हुए जवाब दिया– "बटरफ्लाई– जो कभी किसी के हाथ ना आए और उड़ती हुई सबको पसंद आए।"

वह ब्रेसियर की डोरियां कसती हुई खुद को गहरे तक कांच में देखती है। नाभि के पास गहरा लाल चकत्ता। देह पर निशान, फिसले हुए योगी का ध्यान बिंदु।

हाथों से ढाँपती है। निशान और सुर्ख़ हो जाता है। वह चाहती हैं इस शहर से लौटने से पहले इसी जगह दूसरा टैटू गुदवाए– "अ मीटिंग विद रिमारकेबल योगी।"

22 दिसंबर 2019

उसने अपनी डायरी में टीप दिया– "गर्दन पर दिए गए चुंबन आत्मा तक पहुंचते हैं। देह की आत्मा उसके मध्य में होती है– नाभि उसका केंद्र बिंदु है"

तीसरे दिन टोक्यो के लिए वह ट्रेन पकड़ती है। सपनों को देखने का मतलब कोई दूसरा डायरेक्टर भी हैं जो सोते वक्त भी हमारे से अभिनय करवाता है और हम उसके निर्देश पर फिसल जाते हैं और फिर नींद में उचक कर जाग जाते हैं। वह नहीं चाहती जिंदगी इन दो डायरेक्टरों के बीच अभिनय बनकर रह जाए।

टोक्यो के नारिता एयरपोर्ट के लॉन्ज में बैठी हुई कॉन यमदा की किताब में अंडरलाइन करती है–

The practice of Zen is forgetting the self in the act of uniting with something.

इस बार वह तय करती है कि खुद को भूलेगी, दूसरों को नहीं।

मैं मेल को बंद कर घड़ी की तरफ देखता हूँ रात के तीन बजे रहे हैं। मैं अपनी डायरी में लिखता हूँ :-

"क्या हमारा तय किया हुआ तय रहा?"

❖

बेड़ियाँ

प्रभात प्रणीत

वह एक नौजवान रिक्शावाले की तरफ़ बढ़ा लेकिन फ़िर जैसे ही उसे उसके गाँव के पहले ठाकुरों के गाँव का ध्यान आया वह रुक गया। राजपूतों के गाँव में वह रिक्शा से कैसे जा सकता है? वहाँ तो पैदल ही जाना होगा। वैसे भी राजपूतों के गाँव के आगे तो रिक्शा जाता नहीं।

मनोहर ट्रेन से उतर कर स्टेशन बिल्डिंग को गौर से देख रहा था और जितना देख रहा था उतना ही निराश हो रहा था। स्टेशन बिल्डिंग में उसे अब तक कोई ऐसा बड़ा अंतर नहीं दिख रहा था जिसे देखकर वह ख़ुश हो सके। क्या 35 साल में यहाँ कुछ भी नहीं बदला? ट्रेन के डिब्बों का रंग तो लाल से नीला हो गया, शहर भी कितना बदला-बदला दिख रहा था फ़िर उसके गाँव से सात किलोमीटर दूर की यह स्टेशन बिल्डिंग जस की तस क्यों है? शहर वाला स्टेशन तो पहचान में ही नहीं आता और स्टेशन ही क्यों वह शहर ही अब पहचान में नहीं आता। ऐसा लगता है जैसे बम्बई हो।

उसने बम्बई कभी देखा नहीं था लेकिन सुन रखा था कि वहाँ बड़ी-बड़ी बिल्डिंग, जगमग रौशनी और असंख्य लोग दिखते हैं। 35 साल बाद जेल से निकलकर जब तक वह शहर वाले स्टेशन तक पहुँचता तब तक बदली हुई दुनिया देखकर उसकी आँखें चौंधियां चुकी थीं। न सड़क पहचान में आ रही थी न कोई बिल्डिंग न तो रेलवे स्टेशन ही। और भीड़ इतनी जितनी उसने 60 साल की उम्र में अब तक कभी देखी नहीं थी। उसने जितना सोचा था दुनिया उससे ज़्यादा बदल चुकी थी, उसके गाँव से 80 किलोमीटर दूर का वह शहर जहाँ की जेल में उसने सज़ा काटी वह काफ़ी हद तक बदल कर उसकी कल्पना की बम्बई जैसा हो गया था।

शहर में आये इतने सारे बदलाव को देखकर, उत्साहित हो कर उसने आशा की थी कि उसके गाँव से सात किलोमीटर दूर का यह कस्बा भी जहाँ के स्टेशन पर उतरकर उसे अपने गाँव जाना था बदलकर पुराने शहर जितना विकसित तो हो ही गया होगा। लेकिन 35 सालों में तो यहाँ कुछ भी नहीं बदला था। ऐसा लगता था जैसे यहाँ का समय ठहरा हुआ हो। यहाँ

सबकुछ अब भी रुका ही हो।

गर्मी के दिन में दोपहर के समय सूरज आग उगल रहा था, गाँव तक पैदल जाने की हिम्मत उसे नहीं हो रही थी। जब वह गाँव में रहता था तब तो वह पैदल ही जाता था लेकिन तब जवानी के दिन थे। 35 साल जेल की यातना ने उसकी उम्र 70 पार सरीखी कर दी थी। बाल-दाढ़ी कब के पक चुके थे। चेहरा झुर्रियों से भरा था। वक्त की मार ने उसके कंधे तक को झुका दिया था। मन की ताकत, तन की ताकत सब क्षीण हो चुकी थी। स्टेशन के बाहर रिक्शे लगे थे। उसने सोचा कि वह गाँव तक रिक्शा से ही जायेगा, वह एक नौजवान रिक्शावाले की तरफ़ बढ़ा लेकिन फ़िर जैसे ही उसे उसके गाँव के पहले ठाकुरों के गाँव का ध्यान आया वह रुक गया। राजपूतों के गाँव में वह रिक्शा से कैसे जा सकता है? वहाँ तो पैदल ही जाना होगा। वैसे भी राजपूतों के गाँव के आगे तो रिक्शा जाता नहीं।

फ़िर उसने सोचा कि उसे अब भला पहचानेगा कौन? एक युग बीत गया, जो पहचान सकते वे तो कब के इस दुनिया से चले गये होंगे। ठाकुरों में कोई हमउम्र तो तब भी उससे शायद ही कभी बात करता होगा सिवाय सर्वेश बाबू के। सर्वेश बाबू अर्थात सर्वेश सिंह, ठाकुर राघवेन्द्र प्रताप सिंह का बड़ा बेटा जिनके यहाँ उसका परिवार कई पीढ़ियों से मज़दूरी कर अपना जीवन यापन करता था। कहारों का हर घर किसी न किसी ठाकुर खानदान का पीढ़ियों से मजदूर था। दरअसल पूरी कहार टोली लगभग दो सदियों से राजपूतों द्वारा दान में दी गई ज़मीन में ही बसी थी। हर ठाकुर खानदान ने अपने लिए एक कहार परिवार को तय कर रखा था इसलिए जितने राजपूतों के महलनुमा घर थे, लगभग उतनी ही कहारों की झोपड़ियाँ थीं।

धूप इतनी तेज़ थी कि मनोहर पैदल जाने की हिम्मत नहीं कर सका और यह सोचकर कि ठाकुरों के टोले के पहले रिक्शा से उतर कर वहाँ से पैदल चला जायेगा, वह रिक्शे वाले के सामने जा कर खड़ा हो गया जो कि अपने रिक्शा का हैंडल पकड़े सवारी का इंतज़ार कर रहा था।

“कहाँ जाओगे बाबा”– नौजवान रिक्शे वाले ने अपने सीट पर बैठते हुए मनोहर से पूछा।

अपने लिए पहली बार ‘बाबा’ जैसा सम्बोधन सुन कर मनोहर चौंका क्योंकि 35 साल बाद अपने गाँव पहुँचने के उत्साह में वह यह भूल ही गया था कि जो पूरी दुनिया बदली है उसमें वह भी कितना बदल गया है। अब वह नौजवान मनोहर से बूढ़े मनोहर में तब्दील हो चुका है। उसने अपने गाँव का नाम बताया– “सिमरिया’। इतने साल बाद अपने गाँव का नाम लेना उसे अच्छा लगा अतः उसने फ़िर से दुहराया- ‘सिमरिया चलोगे बाबू?”

“सिमरिया कौन टोला?”– रिक्शावाले के इस प्रश्न ने मनोहर को चौंका दिया। रिक्शा तो सिमरिया में सबसे पहले पड़ने वाले राजपूतों के टोले के आगे तो जाते ही नहीं फ़िर यह टोलों का नाम क्यों पूछ रहा है। उसे कुछ समझ ही नहीं आ रहा था कि वह उसे क्या जवाब दे।

“बाबा बोलो कौन से टोला जाओगे, राजपूत टोला, यादव टोली, कुर्मी टोली, कोइरी टोली या कहार टोली, बताओगे तब तो भाड़ा बताऊंगा”– मनोहर की चुप्पी से रिक्शावाला नौजवान थोड़ा खीज गया था। अभी-अभी ट्रेन आई थी अतः उसके लिए यह जल्दी सवारी पकड़ लेने का समय था, वह एक ही सवारी से तोल-मोल में ज़्यादा समय नहीं बिताना चाहता था।

लेकिन उसके इस प्रश्न ने मनोहर की उलझन को और बढ़ा दिया। रिक्शावाला राजपूतों के गाँव को राजपूत टोला कह रहा था। सिमरिया तो राजपूतों का ही गाँव है। उसके बाद रहने वाली बाकी पिछड़ी जातियों की आबादी भले ज़्यादा है लेकिन उनकी पूरी आबादी सिमरिया के एक चौथाई हिस्से में ही बसी थी। खेत-खलिहान सब राजपूतों का ही है। वह जबतक गाँव में था तो दूध बेचकर यादवों ने और स्कूल में मास्टरी कर, दुकान धंधा कर कुर्मी-कोइरी ने थोड़ी बहुत ज़मीन खरीद ली थी पर इनमें से किसी के पास इतनी ज़मीन नहीं थी कि सिर्फ़ खेती से पेट पाल सके। और उस समय तो ठाकुरों के गाँव को बीचोबीच दो भाग करने वाली मुख्य सड़क को रिक्शे से पार करने के बारे में कोई सोच भी नहीं सकता था। पिछड़ों के घर होने वाली बेटी की शादियों में लगने वाली बारात, बैंड-बाजा, ढोल सब राजपूतों के गाँव को पार करने के बाद ही शुरू होती थी। उनकी सड़क को शांति से ही पार किया जाता था। इसलिए रिक्शावाले के प्रश्न से वह अकचका गया। लेकिन उस वक्त वह सब पता करने, समझने का समय नहीं था, रिक्शावाले की जल्दबाजी को वह समझ रहा था।

"देखो बाबू मुझे तो कहार टोली जाना है लेकिन तुम मुझे साहबों के गाँव के ठीक पहले उतार देना, वहाँ से मैं पैदल चला जाऊंगा"- मनोहर ने सम्भलते हुए जवाब दिया।

"साहबों का गाँव, कहाँ है साहबों का गाँव"— रिक्शावाले के हर सवाल की तरह यह सवाल भी मनोहर की उलझन को और बढ़ा गया। एक पल के लिए वह सोचने लगा कि शायद वह किसी ग़लत जगह उतर गया है। उसने मुड़ कर स्टेशन बिल्डिंग को देखा, स्टेशन तो वही था फ़िर रिक्शावाला इस तरह से क्यों बात कर रहा था। सिमरिया में आख़िर राजपूतों को साहब ही तो बोला जाता है। उसके पिता और वह ख़ुद भी तब ज़्यादातर समय मालिक कह कर ही उनका सम्बोधन करते थे। वे ज़मींदार लोग थे, जिन्होंने उनलोगों को बसाया था, उन्हें मालिक-मुख़्तार न कहें, साहब न कहें तो क्या कहें?

"राजपूतों के गाँव की बात कर रहा हूँ बाबू"— मनोहर ने जवाब दिया। उलझन बढ़ती जा रही थी और अब वह भी इसे सुलझाने के बदले जल्दी अपने गाँव पहुँचना चाह रहा था।

"हाँ तो ऐसा बोलो न कि राजपूत टोला, साहब-वाहब क्या बोल रहे हो, और तुम्हें जब कहार टोली जाना है तो राजपूत टोला के पहले क्यों उतरोगे, भाड़े में ज़्यादा का फर्क तो है नहीं"- रिक्शावाला भी मनोहर से कम उलझन में नहीं था, मनोहर की बातें उसकी भी समझ के बाहर थी। लेकिन अब मनोहर उसका ज़्यादा वक्त बर्बाद करना नहीं चाहता था इसलिए "बाबू, तुम बस मुझे वहाँ उतार देना और जो भी भाड़ा है वह ले लेना" कहते हुए रिक्शा पर बैठ गया।

रिक्शा जब स्टेशन के आगे बढ़ा तो वह कस्बे का बाज़ार, दुकानों को निहारने लगा। यहाँ उसे कुछ परिवर्तन दिखा। अब खपरापड़ोस दुकानों की जगह पक्की और दो-तीन मंज़िलों वाली दुकानों ने ले ली थीं। हालाँकि अभी भी कुछ दुकानें यथावत पुराने स्वरूप में ही थीं जो कि उस बाज़ार की पुरानी पहचान को ज़िन्दा रखे हुए था। परिवर्तन तो दिख रहे थे पर शहर की तरह सबकुछ एकदम से यहाँ बदला नहीं था। भीड़ ज़रूर तब की तुलना में कुछ ज़्यादा थी। पर मनोहर वहाँ हो रहे बदलाव और उनमें अब भी बची पुरानी पहचान को देखकर ख़ुश

था। अब उसे अपने घर लौटने का अहसास हो रहा था।

लेकिन रिक्शा जैसे ही बाज़ार से बाहर निकला और सुनसान सड़कों पर बढ़ने लगा तो दोनों तरफ़ दिखाई दे रहे खेतों को देखकर उसे लगा जैसे यह तो उसका वही पुराना रास्ता है। सड़क अब बढ़िया थी, पहले से चौड़ी और पक्की थी पर दोनों तरफ़ के खेत तो वही पुराने थे। जैसे हर खेत उसे और हर खेत को वह पहचान रहा था। बीच-बीच में दिखने वाले आम के बगीचे भी अपने पुराने स्वरूप में ही थे। वह तो जैसे हर बगीचे और सड़क किनारे के हर पेड़ को पहचान रहा था, उन्हें देख के पुलकित हो रहा था, मानो उनसे बात कर रहा था। उसे लगा जैसे बीच के 35 वर्ष कहीं उड़न छू हो गये। सबकुछ पुराना लौट आया। थोड़ी देर के लिए वह अपनी सारी पीड़ा, सारा दर्द-तकलीफ़ भूल गया। वह भूल गया कि किस तरह उसने अपने जिस खानदान के लिए बलिदान दिया था उस खानदान ने बीते 35 वर्षों में 35 बार भी उसकी सुध नहीं ली। उसके पिता जब तक जिन्दा रहे तो आते रहे, मिलते रहे पर उनके इस दुनिया से चले जाने के बाद के बीस वर्षों में बमुश्किल पांच बार ही उससे कोई मिलने आया था। अब तो उसके बड़े भाई भी इस दुनिया में नहीं रहे और तब बाकी के जो लोग बचे हैं उनके लिए उसका होना और न होना बराबर ही था। लेकिन उस वक़्त वह जाने-पहचाने खेत, बगीचों को देखकर ही ख़ुश था, कुछ इस तरह जैसे इन खेतों की तरह, पेड़ों की तरह उसके गाँव में भी उसे सबकुछ वैसा ही मिलेगा जैसा वह छोड़ कर गया था, जहाँ वह छोड़ कर निकला था।

रिक्शा जब कुछ और आगे बढ़ा तो उसकी ख़ुशी और उत्साह पर हक़ीक़त का बोझ बढ़ने लगा। पुरानी यादें, घटनाएँ, सच सब उस पर हावी होने लगा। भूला तो वह कभी नहीं था पर उन्हीं सड़कों पर आगे बढ़ते हुए उसे वह सारा दुःख दोगुनी ताकत से हलचल मचाते हुए याद आने लगा जब उसने 35 वर्ष पहले पुलिस की जीप में हथकड़ी लगाये शहर की तरफ़ जाते समय महसूस किया था। अब यह दर्द उससे भी ज़्यादा महसूस होने लगा क्योंकि उसमें उसके बाद की कड़वी और बदतर हक़ीक़त भी जुड़ गई थी।

ऐसा लग रहा था जैसे सबकुछ कल की ही बात हो। उसकी नई-नई शादी हुई थी। इतनी सुंदर पत्नी थी– मंजरी, कितना ख़्याल रखती थी उसका। वह भी कितना चाहता था उसको। वह कहती थी कि उससे उसका रिश्ता जन्म-जन्मान्तर का है। वह तो अनपढ़ था पर पता नहीं कैसे उसने पांचवी कक्षा तक की पढ़ाई कर रखी थी इसलिए उसे ऐसी बहुत सारी बातें पता थीं जिसके बारे में वह कुछ भी नहीं जानता था। शहर की बातें, देश-दुनिया की बातें। माँ-पिता, भाई-भाभी, छोटा भतीजा, पत्नी, इतनी ख़ूबसूरत दुनिया थी उसकी। लेकिन उसकी ख़ुशियों को जैसे किसी की नज़र लग गई और एक ही झटके में सब उजड़ गया।

बहुत शोर हुआ कि किसी ने प्रधानमन्त्री इंदिरा गांधी की हत्या कर दी। उसने सुना और अनसुना कर दिया, साहबों के यहाँ चलने वाले रेडियो की खबर से उसे क्या मतलब? मंजरी ने सुना तो कहा कि यह बहुत बुरा हुआ, पर उसे यह समझ में नहीं आया कि दिल्ली में कोई मरा तो इसमें उसका क्या बुरा हुआ पर चूँकि मंजरी ने कहा तो उसने मान लिया कि बहुत बुरा हुआ। फ़िर उसने सुना कि दंगा भड़क गया। हिन्दू-मुस्लिम वाला नहीं जिसके लिए साहब

लोग पिछड़ों को सावधान करते रहते थे बल्कि हिन्दू-सिख वाला। क्योंकि इंदिरा गांधी को एक सिख ने मारा था तो हिंदू अब सारे सिखों को मार रहे थे। यह बात भी उसे तब समझ में नहीं आई थी कि जिसने मारा उसके बदले सारे सिखों को क्यों मारा जा रहा है पर उसे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था क्योंकि वह सिख भी नहीं था और वहाँ कस्बे के पोस्टमास्टर सिख परिवार के अलावा दूसरा कोई सिख भी नहीं था। लेकिन मंजरी ने कहा कि यह और बुरा हो रहा है तो उसने मान लिया कि यह और बुरा हो रहा है।

पर उसे पहली बार बुरा होने का अहसास तब हुआ जब उस रात उसके बाबूजी घबराए हुए आये और बोले कि सर्वेश बाबू ने पोस्टमास्टर सिख परिवार को सुबह ही ख़त्म कर दिया है, पोस्टमास्टर की पत्नी, बेटी सहित पूरा परिवार साफ़। लेकिन इससे भी बड़ी चिंता की बात यह थी कि पुलिस सर्वेश बाबू को पकड़ने आ धमकी थी। और सबसे बड़ी बात यह थी कि ठाकुर राघवेन्द्र सिंह उसके परिवार पर की गई कई पीढ़ियों के अहसान के बदले उससे कुर्बानी मांग रहे थे। उन्होंने रोते-रोते बाबूजी से कहा था कि सर्वेश बाबू को बचाने के लिए मनोहर जुर्म अपने ऊपर ले कर जेल चला जाये, बाद में वे उसे बड़ा से बड़ा वकील कर छुड़वा देंगे। उन्होंने अपनी पगड़ी तक बाबूजी के पैरों पर रख दी थी और बाबूजी ने उन्हें वचन दे दिया और उसे ले जाने आये थे। मनोहर इसके लिए एकदम तैयार नहीं था, माँ रोने लगी थी, भाभी, मंजरी सब रोने लगे थे, उसके बड़े भाई भी तैयार नहीं थे लेकिन बाद में जब पिताजी ने समझाया तो सबको बात माननी पड़ी। बाबूजी ने यह वचन सिर्फ़ भावुकता में बह कर नहीं दिया था। उनके पास इसके सिवा कोई चारा नहीं था। ठाकुर साहब की बात न मानने का परिणाम मनोहर की गिरफ्तारी से ज़्यादा भयंकर होता। जेल जाने से तो सिर्फ़ मनोहर को तकलीफ़ होनी थी, और उसे छुड़ा लेने का ठाकुर साहब वचन भी दे रहे थे लेकिन यदि वह तैयार नहीं होता तो इसका मतलब होता ठाकुर साहब से, सभी राजपूतों से दुश्मनी मोल लेना जो कि उसके खानदान की तबाही का कारण बनता। मनोहर को बात माननी पड़ी। जाते वक्त वह पांच मिनट के लिए मंजरी से मिल पाया जो सिर्फ़ रोये जा रही थी, कैसे भी उसे रुक जाने की याचना कर रही थी पर अब कोई विकल्प नहीं था। उसने ठाकुर साहब के वचन पर भरोसा करने के लिए कहा। उसने कहा कि सर्वेश बाबू उसे मानते हैं इसलिए वह भी उसे ज़रूर छुड़ा लेंगे। सर्वेश बाबू पर उसे भरोसा था क्योंकि वे उससे कभी-कभार हंसी ठिठोली कर लिया करते थे। जब शादी हुई और वह मंजरी को आशीर्वाद दिलवाने कोठी ठाकुर साहब के घर ले गया था तो सर्वेश बाबू ने मंजरी को देखकर ख़ुश होते हुए कहा था– "मनोहर, तुमने बड़ी सुंदर लुगाई पाई है, तुम्हारी जिंदगी तो संवर गई।" सर्वेश बाबू ने उससे कभी दुत्कार कर बात नहीं की थी और अब तो वह उनके लिए ही जेल जा रहा था तो वे उसे ज़रूर बचायेंगे, स्वयं को यह समझाते हुए मनोहर अपने बाबूजी और बड़े भाई के साथ घर से निकल गया।

पर यह तो सिर्फ़ तकलीफ़ की शुरुआत थी। वर्ष बीतते गये और वह जेल में ही रहा। ठाकुर साहब ने इतना अहसान किया कि उसकी फाँसी की सज़ा को हाईकोर्ट से उम्रकैद में बदलवा दिया। एक साल तक मंजरी भी आती रही मिलने उसके बाद जब तक जिन्दा रहे

सिर्फ़ उसके पिता और भाई आते रहे। मंजरी के बारे में पूछने पर भी कोई कुछ नहीं बताता। उसके गाँव के या आसपास के आते रहने वाले कैदियों से उसे कई तरह की बातें मालूम होती रही। कुछ ने कहा कि मंजरी ठाकुर साहब के घर पर ही खाना-बर्तन-पोंछा का काम करने लगी थी। कुछ ने कहा कि सर्वेश बाबू के बच्चे की माँ बनने वाली थी कि मौत हो गई। कुछ ने कहा कि सर्वेश बाबू ने उसे शहर में बेच दिया। तो कुछ ने कहा कि मंजरी ने उसे बचाने के लिये ही सर्वेश बाबू की रखैल बनना मंजूर कर लिया और उसे सर्वेश बाबू ने शहर में रखा हुआ है। पर धीरे-धीरे मनोहर की इन बातों में दिलचस्पी ख़त्म हो गई। उसे बस अपना अपराध पता था कि वह अपनी पत्नी की रक्षा नहीं कर पाया, अपना पतिधर्म नहीं निभा पाया। बची डोर के नाम पर उसके मन में सिर्फ़ यही था कि मंजरी मरी न हो और जहाँ हो उसे भूल चुकी हो, ख़ुश हो।

राजपूत टोला के पहले ही मनोहर रिक्शा से उतर गया और पैदल गाँव की तरफ़ बढ़ने लगा। वह जानता था कि उसे कोई नहीं पहचानेगा फ़िर भी वह अपने चेहरे को इस तरह गमछे से ढके हुए था कि उसे कोई भूल से भी न पहचान पाये। राजपूतों के गाँव की ज़्यादातर कोठियाँ पुरानी ही थीं, वही भव्यता। सड़क किनारे दो-तीन मंज़िला कुछ नये मकान भी बन गये थे पर गाँव की बसावट मोटे तौर पर पहले वाली ही थी। मुख्य सड़क से जो मोड़ सर्वेश बाबू के घर की तरफ़ मुड़ता है उसकी इच्छा हुई कि उस तरफ़ एक बार देखे, सड़क से ही उनका घर दिख जाता है लेकिन वह रुका नहीं, बिना रुके आगे बढ़ता गया। राजपूत टोला पार कर कुछ दूर सड़क की दोनों तरफ़ अब भी सिर्फ़ खाली खेत ही थे। लेकिन उसके बाद का नज़ारा बदला हुआ था। यादवों, कुर्मियों और कोइरियों के टोलों में काफ़ी बदलाव आया था। तब की तरह अब वहाँ कोई भी कच्चा मकान नहीं था। हर तरफ़ सिर्फ़ पक्के मकान थे। एक मंज़िले, दो मंज़िले। भले ही राजपूत टोला के तीन-चार मंज़िले मकानों की तरह ये भव्य नहीं थे लेकिन थे सभी नये। तब के इक्का-दुक्का मकानों को छोड़कर सारे मकान बदल चुके थे।

जब वह अपनी कहार टोली पहुंचा तो वहाँ भी उसे कुछ बदलाव नज़र आये। अब वहाँ झोपड़ियाँ नहीं थीं। ज़्यादातर मकान खपरैल थे। एक मकान तो पक्का भी था भले ही वह एकदम छोटा हो। उसका घर भी अब झोपड़ी से खपरैल में बदल चुका था।

सिमरिया गाँव की कहार टोली में रहते-रहते तीन महीने में ही मनोहर को समझ में आ गया कि अब यह वह गाँव नहीं रहा जिसे छोड़कर वह गया था। अब सबकुछ बदल चुका था। जातियों में बँटे टोले तो अब भी थे लेकिन अब उसमें बहने वाली हवाओं की दिशा और दशा एकदम भिन्न थी, इस हद तक भिन्न कि मनोहर को कई बार लगता जैसे वह यह सब किसी सपने में देख रहा है, 35 साल में ही दुनिया इतनी कैसे बदल सकती है। अब यादव, कुर्मी, कोइरी सभी के पास एकड़ में ज़मीन थी, यहाँ तक कि कुछ कहारों ने भी अब ज़मीन खरीद रखी थी भले ही वह कट्ठो में ही हो जिसमें उसका अपना भतीजा शंभू भी शामिल था। यादव, कुर्मी, कोइरी टोली के हर तीसरे, चौथे घर में कोई न कोई बैंक या रेलवे में नौकरी ज़रूर कर रहा था। उसकी कहार टोली में भी कुछ मास्टर और रेलवे में खलासी थे। यादव,

कुर्मी, कोइरी टोली में अब कुछ इंजीनियर और डॉक्टर भी थे। यादव, कुर्मी, कोइरी टोली हो या कहार टोली ज़्यादातर माँ-बाप अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। उनमें से कई ने अपने बच्चों को शहर के स्कूलों में दाखिल करवा रखा था।

लेकिन सबसे बड़ी बात जो उसे अचंभे में डाले हुई थी, वह थी मात्र 35 सालों में हजारों साल की गुलामी और एक तरह की बंधुआ मज़दूरी का लगभग समाप्त हो जाना। अब कहार टोली में कोई भी परिवार राजपूत टोला के किसी एक परिवार से बंधा नहीं था। कहार टोली के जो लोग मज़दूरी करते थे वे गाँव से लेकर शहर तक मज़दूरी कर रहे थे बगैर किसी एक राजपूत खानदान से बंधे। बहुत सारे लोग अन्य छोटे-मोटे कामों के द्वारा भी गुज़ारा कर रहे थे जैसे किसी दुकान में काम, पेट्रोल पंप पर काम, किसी ठेकेदार के यहाँ काम। बहुत सारे लोग पंजाब, गुजरात भी चले गये थे। अब राजपूतों को अपने खेतों में काम करने वाले मजदूरों की कमी होने लगी थी। हालत यह थी कि मनोहर आये दिन राजपूतों को किसी न किसी कहार से उसके खेत का काम करने के लिये मनुहार करते देखता था। ये ऐसे दृश्य थे जिसकी मनोहर ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। तीन-चार कहारों के घर में मास्टरी की नौकरी करने वाले भी थे। अब कहार टोली थोड़ी-थोड़ी 35 साल पहले के यादव टोली, कुर्मी टोली, कोइरी टोली जैसी दिखने लगी थी।

मनोहर सुखद आश्चर्य से भर जाता जब उसे ठाकुरों के बच्चे कुर्मी, कोइरी, यादव और कहारों के बच्चों के साथ घूमते, खेलते दिख जाते। शाम को क्रिकेट, फुटबॉल, कबड्डी खेलने वाले बच्चों में कोई जाति बंधन नहीं था। सब एक साथ मिलकर खेलते थे। एक साथ घूमते थे। ऊपरी तौर पर कहीं भी छुआछूत का नामोनिशान नहीं था। यह सब कैसे हुआ मनोहर समझ नहीं पा रहा था।

यह सबकुछ अच्छा-अच्छा था, इतना कि उसे ख़ुश हो जाना चाहिए था लेकिन वह ख़ुश नहीं था। वह क्यों ख़ुश नहीं था? क्या इसलिए कि वह सिमरिया में अब ख़ुद को बिल्कुल अकेला महसूस करता था? उसे जानने वाला अब कोई नहीं था। उसका समय घर से मन्दिर, खेल के मैदान से चाय की दुकान तक में बीत जाता था। वह राजपूत टोला नहीं गया था और उसके लिए वहाँ जा कर देखने लायक कुछ था भी नहीं। राजपूत टोला के ज़्यादातर लोगों ने खेती-बाड़ी छोड़कर विभिन्न व्यवसायों को अपना लिया था। ज़्यादातर लोग कलकत्ता, मुम्बई, दिल्ली जा कर बस गये थे। सर्वेश बाबू भी दिल्ली चले गये थे। वे होते भी तो वह शायद ही मिलने जाता। मनोहर भले ही अवांछित था पर उसे अपने घर में रहने की जगह मिल गई थी, समय पर खाना मिल जाता था, भतीजा शंभू उसकी इज़्ज़त भी करता था। धीरे-धीरे कुछ लोग उसे शंभू के चाचा के रूप में जानने लगे थे, कोई मनोहर काका बोलता तो कोई चाचा तो कोई दादा। परन्तु वह सबके लिए एक अनजाने की तरह था। वह चेहरों को टटोलता और चेहरे उसे टटोलते।

35 साल पूर्व, दोस्तों के नाम पर सुखिया और राम खेलावन थे। जब गाँव आया तो पता चला सुखिया मज़दूरी करने पंजाब चला गया और राम खेलावन इस दुनिया में रहा नहीं। सुखिया की शादी में वह शामिल हो चुका था पर तब उसके बाल-बच्चे नहीं थे। मनोहर अब

जब उसके घर गया तो उसकी पत्नी और उसकी ब्याहता बेटी एवं इकलौती नातिन थी। मनोहर ने जब अपना नाम बताया तो सुखिया की पत्नी उसे तुरंत पहचान गई। अब वह यह समझ नहीं पाया कि उसने उसे तब की याद के कारण पहचाना या इन वर्षों में सुखिया द्वारा या कहार टोली में उसे लेकर हुई चर्चाओं के कारण। सुखिया की पत्नी ने बताया कि सुखिया दो साल में एक बार घर आता है लेकिन इस बीच बराबर पैसे भेजता रहता है। पैसे पहले मनीऑर्डर से आते थे पर अब कस्बे में बैंक अकाउंट खुल गया है तो उसकी पत्नी वहीँ से जाकर पैसे निकाल लेती है। छः महीने पहले ही सुखिया पंजाब गया है तो अब डेढ़ साल बाद ही लौटेगा।

राम खिलावन उन तीनों दोस्तों में सबसे बलिष्ठ था, इतना कि वह मनोहर और सुखिया के पिलपिले शरीर को लेकर हमेशा यह कह कर चिढ़ाता रहता था कि– "तुमलोग ऐसे ही रहे तो जल्दी ही टें बोल जाओगे और तुम्हारे बीबी बच्चों का लालन-पालन मुझे ही करना पड़ेगा।" लेकिन ऊपरवाले को कुछ और ही मंजूर था, अपने बलिष्ठ शरीर और कहारों के पहलवान के नाम से मशहूर राम खिलावन बीस वर्ष पहले ही दुनिया से चला गया। उसके जाने के दो वर्ष बाद ही उसकी पत्नी भी गुजर गई। राम खिलावन के दोनों बच्चे जिन्हें मनोहर गोद में खिला चुका था, कलकत्ता मज़दूरी करने चले गये और पिछले पांच सालों से वे लोग कहार टोली नहीं आये। राम खिलावन की इस दुःखभरी कहानी से ज़्यादा तकलीफ़ मनोहर को उसकी मौत के कारण से हुई। बीस साल पहले विधानसभा चुनाव के दिन जब यादव, कुर्मी और कोईरी टोली के लोग राजपूत टोला में मौजूद बूथ पर वोट डालने पहुंचे तो उन्हें खदेड़ने के लिए राम खिलावन अपने मालिक ठाकुर सिन्धेश्वर सिंह की तरफ़ से गोली चला रहा था, उस दिन दोनों तरफ़ से भीषण गोलीबारी हुई और उसमें राम खिलावन सहित चार लोग मारे गये जिसमें राम खिलावन के अलावा दो यादव और एक कुर्मी थे। मनोहर के लिए यह पूरा घटनाक्रम समझ के परे था। 35 साल पहले तक तो कभी किसी चुनाव में कोई विवाद हुआ ही नहीं। विवाद तो बहुत दूर की बात राजपूत टोला के बूथ पर सिर्फ़ राजपूत लोग ही वोट डालते थे। वोट से राजपूतों के अलावा कभी किसी पिछड़ी जाति को कोई वास्ता रहा ही नहीं। कब चुनाव आता और कब चला जाता पता नहीं चलता। हां मनोहर, राम खिलावन और सुखिया को पता रहता था क्योंकि जो साहब लोग चुनाव कराने बक्सा, पेटी लेकर राजपूत टोला के प्राइमरी स्कूल में आते थे उनकी सेवा-भगत करने की ज़िम्मेवारी इन पर ही होती। मालिकों के घर से खाना पहुँचाने से लेकर नहाने के इंतज़ाम तक। मनोहर समझ नहीं पा रहा था कि एकाएक पिछड़ों को वोट देने के लिए किसने उकसाया और राम खिलावन ने बंदूक चलाना कब सीख लिया? बंदूक, बम तो राजपूतों की चीज़ थी, वह पिछड़ों तक कैसे पहुँच गई जो उस दिन दोनों तरफ़ से गोलीबारी हुई। और जब पिछड़े इतने हिम्मत वाले हो ही गये तो राम खिलावन को उन्होंने राजपूतों की गुलामी से क्यों नहीं मुक्त कराया जो वह उनकी तरफ़ से गोली खाकर मारा गया? अब तो कुर्मी टोली में प्राइमरी स्कूल खुल गया है और अब पिछड़ों के वोट वहीं पड़ते हैं। राजपूत टोला का प्राइमरी स्कूल अब हाई स्कूल में बदल चुका है जहाँ अब सिर्फ़ राजपूत वोट डालते हैं।

सुखिया, राम खिलावन के न होने से अब कहार टोली मनोहर के लिए भी परायी-सी हो गई। तब के बड़े, बूढ़े पहले ही इस दुनिया से जा चुके थे और हमउम्र साथी थे नहीं। कहार टोली के पीपल के पेड़ के नीचे की चाय की दुकान पर वह सुबह चाय पीने जाता तो उससे बात करने वाला कोई नहीं होता। इक्का-दुक्का लोग उसके भतीजे शंभू के कारण उसे जानते तो कभी कभार कुछ बोल देते या पूछ लेते। लेकिन उसकी पहचान उनके बीच भी उसके 35 साल जेल में रहने की कहानी तक ही सीमित थी। उसने इतना बड़ा त्याग किया था अपने परिवार के लिए लेकिन उसके प्रति सबके चेहरे पर एक उपहास, तिरस्कार का भाव होता जिसका कारण वह कभी समझ नहीं पाया।

लेकिन मनोहर इससे परेशान नहीं था। जिंदगी की साँझ में ये बातें उसके लिए मायने नहीं रखती थीं। मनोहर की चिंता कुछ भिन्न थी।

कोईरी टोली का काली मन्दिर, यादव टोली की चाय की दुकान और राजपूत टोला पिछड़ों की टोली की सीमा रेखा बनी राजपूतों द्वारा छोड़ी गई परती ज़मीन जो अब खेल के मैदान में तब्दील हो गई थी के बीच घूमते-घूमते मनोहर यह जान पाया था कि कहार टोली के नौजवान लड़के यादव, कुर्मी और कोइरी के हमउम्रों से ज़्यादा राजपूत नौजवानों के करीब थे। मनोहर इसका कारण समझ नहीं पा रहा था। और बात सिर्फ़ युवाओं तक सीमित नहीं थी। कहार टोली के आमलोग भी दूसरी पिछड़ी जाति के लोगों को नापसंद करते थे। 35 वर्ष पहले यह माहौल नहीं था। तब भले ही प्रतिरोध की क्षमता कम हो लेकिन तमाम पिछड़ी जातियों में एक एका-सा था। उनकी तकलीफ़ें चूँकि साझा थीं, इसीलिए उसे आपस में बाँटने की ख्वाहिश भी साझा ही थी। पर अब वैसा कुछ भी नहीं था। तनाव की एक रेखा-सी खिंच चुकी थी जिसके एक तरफ़ यादव, कुर्मी और कोइरी जातियां थीं तो दूसरी तरफ़ कहार।

मनोहर इसका कारण जानना चाहता था लेकिन कैसे यह वह नहीं जानता था। उसकी बातचीत काफ़ी कम लोगों से होती थी। हमउम्र बड़े बूढों से ज़्यादा सहज वह नवयुवकों के साथ था और इसका एक कारण शंभू का इंटर पास बेटा मंजय भी था। मंजय 'दादा-दादा' कह कर उससे बात करता रहता और खेल के मैदान में भी अपने साथ ले जाता। वहीं मनोहर दूसरे बच्चों से घुलमिल पाया था। क्रिकेट खेलने के दौरान हुए एक विवाद और उसके बाद हुई बच्चों की मारपीट ने मनोहर को उन बातों से एक हद तक अवगत करवाया जिससे वह अनजान था।

बात मामूली थी और जितना मनोहर समझ पाया था ज़्यादा ग़लती एक राजपूत लड़के की थी लेकिन जब बात बढ़ गई तो राजपूत और कहार इकट्ठे हो गये और उन्होंने यादव, कुर्मी और कोईरी लड़कों की पिटाई कर दी। यह घटनाक्रम उसी विभाजन की परिणति थी जिसका कारण मनोहर समझ नहीं पा रहा था। जब सभी चले गये और वह कहार टोली के बच्चों के साथ घर लौटने लगा और उसने उनकी बातों में पिछड़ी जातियों के प्रति ग़ुस्सा देखा तो इसे मौका समझते हुए पहली बार मनोहर ने इस संबंध में बात की।

"आख़िर तुम लोग बैकवर्ड हो कर भी बैकवर्ड के इतना खिलाफ़ क्यों हो"– मनोहर ने सीधे सपाट शब्दों में उनसे प्रश्न किया।

"बैकवर्ड अब सिर्फ़ हमलोग बचे हैं दादा, बाकी सब फ़ॉरवर्ड हो गये, आप इन अहीरों, महतो और कुशवाहा को बैकवर्ड समझने की भूल न करो, यही लोग अब असली फ़ॉरवर्ड हैं"– जवाब मंजय ने ही दिया और वह भी साफ़-साफ़, बगैर लाग-लपेट।

इस जवाब ने मनोहर के सामने कुछ खुलासा कर दिया था लेकिन वह और भी स्पष्टता चाहता था, उसने फ़िर पूछा– "ये लोग फ़ॉरवर्ड कैसे हो सकते हैं, ये लोग हमलोगों की तरह ही बैकवर्ड हैं?"

"बैकवर्ड होने से क्या होता है दादा? आप इन यादवों, कुर्मियों और कोइरियों की हरकत देखो। आये दिन हमें सताते रहते हैं। संजीत के पिताजी की चाय की दुकान पर ये लोग चाय पीते हैं और पैसा भी नहीं देते। गोलू के दादाजी के सब्जी के खेत से यही लोग मुफ्तखोरी करते हैं। इनके लौंडे हमें पीट भी देते हैं और इनके यहाँ शिकायत करने जाओ तो इनके माँ-बाप मारने को दौड़ते हैं। राजपूत न हों तो ये लोग हमें घर में घुसकर मारें। सीधे मुँह बात तक नहीं करते, दुत्कारना, बेइज़्ज़त करना इनके लिए आम बात है। ऐसी कोई हरकत राजपूत लोग तो नहीं करते, आप इतने दिन से हो आपने देखा है किसी राजपूत को यह सब करते हुए? फ़िर हम किसे अपनी तरह बैकवर्ड समझें और किसे फ़ॉरवर्ड? इनके सामने हमारे बाप-दादा की जुबान डर से नहीं खुलती लेकिन हमलोग अब नहीं डरते। और कब तक डरें और क्यों डरे? हमारे शरीर का खून भी उनकी तरह लाल ही है"– एक ही साँस में सारी कहानी बयां करने वाला मंजय से दो साल बड़ा उसका दोस्त लखन था।

अब रहस्य के परदे उठते जा रहे थे, मनोहर अचंभे में था। वह अब जा कर बहुत कुछ समझ पा रहा था लेकिन उसने और परतों को उधेड़ने की कोशिश की।

"यह सब वाकई बुरा है, इन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये। लेकिन सदियों से इन ऊँची जाति के लोगों ने हमें इससे हज़ार गुना ज़्यादा सताया है। हमें अछूत समझते रहे, हमारे पढने-लिखने, मन्दिर तक जाने पर रोक लगा कर रखे रहे। हमारी बहू-बेटियों को भी कुछ नहीं समझा। यदि अंग्रेज नहीं आते और सभी के लिए एक तरह का कानून नहीं बनाते तो ये लोग तो हमें आगे भी सदियों तक गुलाम बना कर ही रखते। आज़ादी के बाद भी भले ही सरकार ने इनसे जमींदारी छीन ली लेकिन इनका सामंती राज चलता ही रहा, वह सब हमने भोगा है। यादव, कुर्मी और कोईरी जाति के लोग ज़्यादती करते हैं तो यह भी ग़लत है लेकिन जब ऊँची जातियों का अत्याचार चरम पर था तो जितना हो सका इन्होंने ही हमारी रक्षा की है इसलिए हमें इन्हें अपना दुश्मन नहीं समझना चाहिये, ये हमारे भाई हैं"– मनोहर उन्हें समझने के साथ-साथ समझाने की भी कोशिश कर रहा था।

"काका, जो आप बता रहे वो सब हमने नहीं देखा। आज ऊँची जाति के लोग जितना तंग नहीं करते हैं हमें उससे ज़्यादा ये पिछड़ी जाति के लोग तंग करते हैं। आपने सामंत राज देखा होगा पर हमलोग नवसामंतों का राज देख रहे हैं। एक बात और काका, दूसरों का दिया दुःख तो हम फ़िर भी सह लेते हैं लेकिन जब अपने दुःख देते हैं तो सहना मुश्किल हो जाता है"– कहार टोली में बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने वाले राजेश के इस जवाब के बाद मनोहर के पास अब समझने के लिए कुछ भी नहीं बच गया। वह सब समझ गया और पहले से ज़्यादा निराश

हो गया।

लेकिन उसकी निराशा अभी और बढ़ने वाली थी। वह जिन बातों से निराश था वह अब भी उसे सुधर जाने वाली, संभल जाने वाली बात लगती थी क्योंकि उसे यह पिछड़ों में हो रहे विकास और उन्हें मिल रहे राजनीतिक सत्ता के संक्रमण काल के दौरान होने वाले कुछ कठिनाइयों, तात्कालिक भ्रम से ज़्यादा कुछ नहीं लग रहा था। उसे लगता था कि यह सब जल्दी ठीक हो जायेगा और पिछड़े समाज के लोग आपसी तनाव को भूलकर पुनः एक साथ ही होंगे। अगड़ों के व्यवहार में आये बदलाव पर उसे बहुत भरोसा नहीं हो पा रहा था, हालाँकि अगड़ी जातियों का किसी भी कारण से पिछड़ों के साथ इंसानों की तरह व्यवहार करते देखना उसे सुकून देता था लेकिन उन्हें वह सशंकित नजरों से ही देख रहा था। और जल्दी ही उसकी शंका सही साबित हो गई।

उसे सिमरिया पहुँचे अभी एक साल भी नहीं हुआ था, वह अपने ही घर और समाज में ठीक से शामिल भी नहीं हो पाया था, यह बदला समाज उसे परखने में लगा था और वह इस समाज को पढ़ने में कि तभी एक नया बवंडर खड़ा हो गया।

रामनवमी के दस दिन पहले राजपूत टोला के शिव मंदिर पर एक बैठक बुलाई गई जिसमें अगड़े, पिछड़े सभी जाति के लोग शामिल हुए। वहाँ रामनवमी का आयोजन भव्य तरीके से करने का निर्णय किया गया जिसके तहत उस मन्दिर से एक विशाल जुलूस निकालकर आस-पास के 10 किलोमीटर की परिधि में आने वाले सभी मन्दिरों पर जल अर्पण करना था। जुलूस के साथ 108 महिलाओं को जल से भरा घड़ा लेकर चलना था। इन महिलाओं को एक ही रंग की साड़ी देने का निर्णय हुआ जिसे पहनकर ये महिलाएं जुलूस के साथ चलतीं। और यह सौभाग्य सिर्फ़ पिछड़ी जाति की महिलाओं को देने का भी निर्णय हुआ। जुलूस के मध्य में बैंड बाजे वालों को रहना था। और जुलूस के आगे 108 युवा लड़कों को हाथों में तलवार लेकर, जय श्री राम का नारा लगाते हुए जाना था। चूँकि राजपूत टोला में ज़्यादा युवा नहीं थे इसलिए 108 में 100 पिछड़ी जाति के ही युवा चयनित हुए। यह जुलूस सुबह नौ बजे शिव मन्दिर से प्रारंभ हो कर विभिन्न मंदिरों का भ्रमण करते हुए वापस उसी शिव मंदिर पर समाप्त होना था, जहाँ रात में भजन-कीर्तन और महाभोज की व्यवस्था की गई थी।

इस आयोजन में होने वाला पूरा खर्च राजपूतों द्वारा ही किया जाने वाला था लेकिन आयोजन समिति में सभी जातियों को जगह दी गई थी। कुल मिलाकर यह एक आदर्श समाज द्वारा सारे भेदभाव भूल कर किया जाने वाला धार्मिक आयोजन दिख रहा था। और यह समाज अब इस हद तक आदर्श हो चुका है यह बात मनोहर को स्वीकार्य नहीं थी। उस बैठक के लिए जेल से आने के बाद पहली बार वह राजपूत टोला गया था। इस बार भी उसने सर्वेश बाबू के घर की तरफ़ झाँका तक नहीं। इस बैठक के बाद यादव, कुर्मी, कोईरी, कहार सभी जाति के लोग ख़ुशी-ख़ुशी अपने घर लौट आये। लेकिन मनोहर ख़ुश नहीं था। उसे कहीं कुछ बहुत ग़लत होता दिख रहा था, लेकिन उस वक्त उसे पता नहीं था कि वह ग़लत क्या है। कुछ ग़लत होने का प्रमाण उसे तब मिला जब अगले दिन कहार टोली के पास के खेल के मैदान में युवाओं की एक और गुप्त बैठक हुई। इस बैठक का नेतृत्व भी राजपूत टोला के

ही लड़के कर रहे थे एवं उसमें तीन-चार यादव, कुर्मी व कोईरी टोली के लड़कों को छोड़कर बाकी सभी कहार टोली के लड़के थे जिनकी संख्या तीस से ज़्यादा थी। इस बैठक में राजपूत टोला के लड़कों ने जुलूस का जो मार्ग बताया वह सिमरिया से सटे इस्माइलपुर के मुसलमानों की घनी बस्ती से हो कर गुज़रने वाला था। जुलूस के दौरान जय श्री राम के नारों के साथ पाकिस्तान विरोधी नारा भी लगना था। कई और भी नारे लगने थे जो परोक्ष रूप से मुसलमानों को गाली लगे, उन्हें उकसाये और यदि कोई मुसलमान विरोध करे तो मुसलमानों को घर में घुसकर मारा जा सके इसका पूरा इंतज़ाम भी रखना था। मुसलमानों की बहू-बेटियों को बिल्कुल भी नहीं बख्शना था। और यदि वह जुलूस इसके बाद भी बिना किसी प्रतिरोध के, बिना किसी विवाद के पूरा हो गया, मुसलमानों को मारने का बहाना न मिला तो जुलूस के शिव मंदिर वापस पहुँचने के पहले ही वहाँ ऐसा इंतज़ाम कर देना था जिसे देखकर भीड़ उत्तेजित हो जाये और मुसलमानों की बस्ती में घुसकर उन्हें मारे। वह इंतज़ाम था एक पशु को काटकर उसे शिव मंदिर में फ़ेंक देना। पशु के टुकड़ों को फ़ेंकने का मौका जुलूस के शिव मंदिर से निकलने के एक घंटे बाद अर्थात 10 बजे मिलने वाला था जब वहाँ पूरी तरह सन्नाटा होने की संभावना थी और यह अति महत्वपूर्ण ज़िम्मेवारी मनोहर के भतीजे मंजय और उसके अन्य दो साथियों को मिली थी। यह प्रमुख ज़िम्मेवारी मिलने से मंजय अति उत्साहित भी था।

यह सब सुनकर मनोहर सकते में था। वे लोग यह सारी चर्चा मनोहर के सामने बड़ी सहजता से कर गये क्योंकि मनोहर के व्यक्तित्व पर हर वक्त छाई रहने वाली चुप्पी से उन्हें कोई खतरा नहीं दिखा था। मनोहर का हर वक्त निर्विकार रहना उन्हें गोपनीयता को लेकर निश्चिन्त कर रहा था। लेकिन मनोहर जेल से आने के बाद पहली बार इतना ज़्यादा व्यथित और व्यग्र था परन्तु उसने अपने चेहरे की चुप्पी और निर्विकारता को यथावत रखा। पर उसकी यह चुप्पी बाकी सभी के जाने के बाद कहार टोली के लड़कों के सामने टूट गई। उसने अपनी बुद्धि और समझ से पूरा प्रयास किया कि ये लोग किस हद तक जुल्म और अपराध करने वाले हैं यह महसूस करें। उसके पास जितनी जानकारियां थी, जितने तर्क थे, उसने सब इस्तेमाल किए लेकिन वे कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे। उनके अनुसार मुसलमान उनके सबसे बड़े दुश्मन थे जिन्हें सबक सिखाने की सख्त आवश्यकता थी। ताज्जुब की बात यह थी कि जिन यादवों, कुर्मियों, कोइरियों से ये लोग चिढ़ते थे अपने इस मुहिम में उन्हें शामिल करने पर भी इन्हें कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि यह हिन्दू धर्म की रक्षा की बात थी, और सभी हिंदुओं का इस हेतु एक होना आवश्यक था अन्यथा पाकिस्तान परस्त ये मुसलमान अपनी ताकत, जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ा रहे हैं यदि इन्हें अब नहीं रोका गया तो जल्दी ही हिंदुस्तान पर इनका कब्ज़ा हो जायेगा, हिंदुस्तान पाकिस्तान की तरह मुस्लिम राष्ट्र बन जायेगा और मुगलकाल की तरह हिन्दुओं पर फ़िर से जुल्म-सितम होगा। मनोहर ने सभी तर्क दिए, यह कि हज़ार साल से हिंदू-मुसलमान एक साथ रह रहे हैं जब मुगलों ने हिन्दुओं को ख़त्म नहीं किया तो अब कौन करेगा, यह भी कि मुगलों से ज़्यादा तो ऊँची जातियों ने पिछड़ों को सताया है पर इतिहास का हिसाब वर्तमान में नहीं हो सकता और ऐसा करने का प्रयास इस मुल्क को ही नष्ट कर देगा। और चूँकि अब मनोहर पूरा खेल समझ गया था इसलिए उसने

यह भी कहा कि ऊँची जातियों की सामाजिक सत्ता को खोता देख, पिछड़ों में बँटता देख उसे कायम रखने की मंशा रखने वाले कुछ विकृत मानसिकता के लोग, यह जानकर कि वे अब पहले की तरह पिछड़ों पर प्रत्यक्ष शासन नहीं कर सकते इसलिए इनकी बढ़ती ताकत को रोकने के लिए हिंदू धर्म की एकता के नाम पर पिछड़ों को मुसलमानों से लड़ा रहे हैं ताकि पिछड़ों की यह पीढ़ी और आने वाली नस्लें इसी लड़ाई में नष्ट हो जाएं।

मनोहर अब बहुत बेचैन था, उसने शंभू से भी बात की लेकिन उसने भी इन बातों को नज़रअंदाज़ कर दिया। जैसे-जैसे रामनवमी का दिन नजदीक आ रहा था मनोहर की घबराहट, चिंता, छटपटाहट बढ़ने लगी। वह किसी भी तरह मंजय को, कहार टोली को, पिछड़ों को, हिन्दुओं को कलंकित होने से बचाना चाह रहा था। ऐसा करने के लिए वह किसी भी हद तक जाने को तैयार था और उसने हद पार की भी।

मनोहर को पता था कि पशु को अहले सुबह काटकर किस जगह पर छुपा कर रखा जायेगा जिसे जुलूस के निकलने के पश्चात मंजय और उसके साथी दस बजे मंदिर पर फ़ेंकने वाले थे। रामनवमी के दिन उसी जगह से पशु के मांस का टुकड़ा ले कर मनोहर ठीक नौ बजे जब शिव मंदिर पहुँच गया और सभी के सामने उसने उस टुकड़े को मंदिर पर फेंका। उसके बाद जो हुआ उस हर बात के लिए मनोहर पहले से तैयार था। उसकी पिटाई हुई, पुलिस को बुलाया गया, वह गिरफ़्तार हो गया और चूँकि मंदिर अपवित्र हो गया तो जुलूस भी रद्द हो गया। उसने पुलिस को सबकुछ बता दिया कि आख़िर उसने ऐसा क्यों किया, उसने पूरी साज़िश को पूरे समाज के सामने रख दिया लेकिन चूँकि उसने साज़िशकर्ता या उसमें सक्रियता से शामिल अपने भतीजे मंजय या किसी अन्य लड़के का नाम नहीं लिया इसीलिए आधे लोगों ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया और पुलिस ने भी उसे गिरफ़्तार कर लिया।

लेकिन मनोहर उस घटना को रोक देने के कारण, आधे लोगों को साज़िश समझा पाने के कारण, समाज को कुछ जगा पाने के कारण, अपने भतीजे मंजय को बचा लेने के कारण असीम संतोष और एक जीत का अनुभव कर रहा था। 36 साल बाद एक बार फ़िर से वह अपराधी बनकर पुलिस की गाड़ी में बैठा था, एक बार फ़िर वह जेल जा रहा था पर इस बार उसकी आँखों में रात का घुप्प अंधेरा नहीं था बल्कि दिन की चमकीली रौशनी थी और उसके दिल में उफान मारती आज़ादी की ललक थी, हजारों साल की गुलामी से आज़ादी। पुलिस की गाड़ी जब सर्वेश बाबू के घर के मोड़ के पास पहुंची तो उसने 36 साल बाद पहली बार उनके घर को भरपूर निगाह से देखा, देखता रहा और उसके होंठों पर मुस्कान तैर गई, जीत की मुस्कान।

❖

तुलसी बेसरा को रोना नहीं आता

श्रीधर करुणानिधि

तुलसी बेसरा का सबकुछ खत्म हो गया था...वो भाग रहा था...दौड़ा जा रहा था...वो कोई खेल का मैदान नहीं था...बीहड़ था...जहाँ पैरों में छाले पड़ गए थे..उसकी सुनने वाला कोई नहीं था.....उसे उस घटना के बाद पुलिस चारों ओर खदेड़-खदेड़ कर ढूँढ़ रही थी...

कहानी को सिर्फ कहानी की तरह देखना चाहिए...इससे दुःख कम हो जाता है...उसे जीवन की तरह देखने से दुःख पहाड़ में बदल जाते हैं।

मेरी आँखों में जाने क्यों बहुत पहले देखी गई एक तस्वीर बार-बार तैर रही है जिसमें माराडोना अपना घायल पैर फिदेल कास्त्रो को दिखा रहे हैं। फिदेल बड़ी ममता से माराडोना के पैर को देख रहे हैं जैसे वे उनके दर्द में शामिल हैं....बस चले तो तुरंत उनका दर्द हर लेंगे....फिर वो कैप्सन याद आता है "कास्त्रो इज जस्ट लाईक माई फादर : डियागो सेड" गॉड फादर?....पता नहीं कैसे होते हैं?...मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इस कहानी में कोई किसी के दर्द में शामिल नहीं है...ऐसी कोई तस्वीर भी नहीं है...न हो सकती है जहाँ कोई किसी को ममता से देखे... यहाँ तो ताड़ के पेड़ों के झुरमुट हैं...दूर-दूर तक धान के खेत हैं...सपने ताड़ के पेड़ों से शुरू होकर धान के खेतों तक जाते हैं पगडंडियों के सहारे।.....'ओक़ाते चलाअ् कना'(कहाँ जा रहे हो?).....'होड़ो गेअ् चलाअ् कना'(धान काटने जा रहे हैं)....'बोझा कुटुंग चलाअ् कना'(बोझा उठाने जा रहे हैं).....'गेंद खिलोड चलाअ् कना' (फुटबॉल खेलने जा रहे हैं)..... 'तड़ी फिफेड चलाअ् कना' (ताड़ी उतारने जा रहे हैं)....बस यही है दुनिया...इत्ती सी..

कुछ भी करो ताड़ के पेड़ तो रास्ते में आ ही जाते हैं...कुछ आँखों में बड़े होने के सपने भी हैं लेकिन कोई कितना भी बड़ा होने का सोचे ताड़ का पेड़ तो नहीं हो जाएगा न! हो भी जाए तो तय है कि आसमान के किसी सितारे को तो नहीं छू पाएगा.. सपनों की एक चौहद्दी होती है ज़मीन के टुकड़े की तरह। कुछ न हो तो सपनों के जले ठूँठ गाछ पर चढ़ जाएगा और आसमान देखता रहेगा....

ताड़ के पेड़ और चाँद का कुछ न कुछ तो नाता जरूर है। चाँद अक्सर कतार में खड़े इन लंबुओं के सिर पर आकर जैसे अटक जाता है!... उसी चाँद की सफेद रोशनी में कतारबद्ध खड़े इन पेड़ों के फलों में रस आता है। कोई इसका क्या इस्तेमाल करे? तड़कोल खाए और अधिक से अधिक जुआए तड़कोल को फुटबॉल की तरह खेले जैसे मैदान में गेंद को लुढ़काकर बढ़ रहा हो गोलपोस्ट की तरफ। तलवों की हड्डी से तड़कोल के फुटबॉल को जबतक चाहे नचाए और जब चाहे उसका मुंह भसका दे। फोड़ डाले।

बहुत ताकत होते हुए भी चुनरू बेसरा के पोखर के पानी की तरह शांत रहे। कोई गाली भी दे दे, मुंह से बकार तक नहीं निकाले। कोई कितनी भी हानि पहुंचा दे मुंह नहीं खोले। गुमसुम घर आकर बासी भात खाकर बसबिट्टी के झाड़ की छाया में खटिया डाल के सो रहे। पचैय और दारु! ताड़ी कभी कभी!!

कोई ताड़ जैसा लंबा और बड़ा होना चाहे? हाकिम जैसा? अगर ज़िद से कोई हो ही जाए....फल कहाँ से लाए?

ताड़ के फल ग़रीबों के होते हैं। जितना चाहो अघा के खाओ...लेकिन जब दूर मैच खेलने जाना हो तो गमछे में मूढ़ी और लौका की सब्जी बाँध के ले जाना ही उपाय...भाई! मैच का आयोजक नाश्ता दे न दे! मैच के बीच हाफ-टाइम में कचर लो...और भर पेट पानी पीकर फिर शुरु हो जाओ...

..उस दिन हाकिम ने अपने पैसे से ब्रेड, बटर, केला और ताजा छनी हुई जिलेबी मंगवाई और बंटवाते हुए जब उस तक पहुँचा तो वह मैदान की धास पर ही गमछा पसार कर खा रहा था...सारी खाने की चीजें उसके गमछे पर डलवाते हुए हाकिम के मन में एक कचोट हुई। उसने कहा... "तुलसी बेसरा न, वल्द सोनेलाल बेसरा!"

तुलसी ने चौंक कर देखा। साहब उसका और बाबा का नाम कैसे जानते हैं? "अरे चौंको नहीं तुम्हारे टोले के राजेंदर हेम्ब्रम से जाना तुम्हारे बारे में...सामने बड़ाई नहीं करनी चाहिए पर कर रहा हूँ...तुम बहुत नाम करेगा...तुम बहुत बड़ा फुटबॉलर बनेगा। तुम हमारे ब्लॉक, हमारे जिला...राज्य, देश सबका नाम रोशन करेगा एक दिन!" हाकिम का गला भर आया...हाकिम बोला और बोल के चला गया...ताँत की जाली में शतरंज के खांचेनुमा उजले काले घरों वाला एक गोल चाँदनुमा फुटबॉल देकर...। एक चमचमाती ट्रॉफी देकर.. ब्लॉक टूर्नामेंट के फाइनल में अकेले विपक्षी टीम के खिलाफ एक दर्जन गोल करने पर। हाकिम मंच की कुर्सी से उछल पड़ा था। 'वाह! क्या प्लेयर है!'

कहाँ गया हाकिम? उसका ट्रांसफर हो गया न...ये तो होना ही था...और तुलसी बेसरा हरेन सिंह के खेत में अपने बाप के साथ जुट गया फिर से। जुटा हुआ तो पहले से ही था वो.. फसल दर फसल उपजाता रहा। अपने गांव, ब्लॉक और देश का नाम रोशन करता रहा। राज्य और देश की जीडीपी में अपना योगदान देता रहा। अपना राशन कार्ड बनवाने के लिए दौड़ता रहा। पांच किलो चावल और पांच किलो गेहूं के लिए मीलों पैदल चलके राधे डीलर के घर का चक्कर काटता रहा। पंचों के लिए दारू का इंतजाम करता रहा और पंच! पंचैती करते रहे और क्या..

"ताड़ और खजूर के पेड़ इस क्षेत्र की मिट्टी में बहुत कम होते हैं। ये बनस्पतियाँ सूखे क्षेत्रों की हैं। यह सूखा इलाका नहीं है। खूब तर है यहाँ की मिट्टी। जानते हो यहाँ पानी दस फुट पर निकल आता है। खूब वर्षा होती है न इसलिए।"

रास्तों में कई मोड़ हैं। बस्तियां घनी नहीं हैं। पेड़-पौधे खूब। पेड़ों के बीच बस्तियां छिप जाती हैं। सन्नी की रनिंग कॉमेंट्री रुक-रुककर चालू हो जा रही है। वह एक ही बार में सब कुछ कह देना चाहता है। दिखा देना चाहता है अपना इलाका...। उत्साह से भरी हुई भाषा का जादू हर ओर हरियाली की तरह फ़ैल रहा है..

"लेकिन जहां भी थोड़े से झुरमुट ताड़ के पेड़ों के दिखें तो यह जान लेना चाहिए कि यहां आदिवासी लोगों की बस्ती है। संथाल (सौतार) और उरांव (धांगड़) ये दो जनजातियों के लोग इधर रहते हैं।"

सड़कें ठीक-ठाक कही जा सकती हैं। लगता है एक बार बनने के बाद पिछले कई वर्षों से रिपेयर नहीं हुईं हैं। बीच-बीच में टूटी हुईं। इसलिए बोलेरो और स्कॉरपियो जैसी गाड़ियों का ही इधर क्रेज है। भाड़े पर चलाने के लिए और दरवाजे पर शान से दिखाने के लिए यही गाड़ियां चलन में हैं। हमारी गाड़ी एक उजले रंग की स्कॉरपियो है, जिसपर बेवजह लटकन-फुदने टंगे हुए हैं। ड्राइवर एक बहुत ही भद्दे और गंदे दांतों वाला आदमी है। नौजवान नहीं है। उसके मुंह में फुल-टाइट गुटके की थूक भरी हुई है। लगता है पिच से अब फेंकेगा कि तब फेंकेगा।

मैंने कैमरे को अपने बैग से निकाल लिया है। सन्नी की यादें..उसकी सुनी और देखी हुई कहानियाँ.. और हमारे देखे हुए के आधार पर एक स्टोरी तैयार करेंगे....हम कुछ वीडियो शूट करेंगे...हम इसका क्या करेंगे हमें खुद नहीं मालूम। पर जाने क्यों बहुत बेचैनी हो रही है....

जब से मैंने सन्नी से कहानी सुनी है। पता नहीं क्यों रात दिन बहुत सारी चीजें घूम रही हैं। गड्डमड्ड हो रही हैं... सन्नी कहता है... "पूरे दस साल बाद जेल से छूटकर जब आया था तब उसके आने से पहले उसके पिता ने बहुत पुराने फुटबॉल को उस दिन ओलती में जाली के सहारे टांग दिया था...आते ही लटके फुटबॉल को दोनों हाथों से पकड़ कर भर-दम चूमता रहा... और फिर भीतर घर के अन्दर जाकर अपनी खाट पर सो गया। बड़ी-बड़ी डरावनी दाढ़ी..बढ़े हुए बेतरतीब बाल के बीच छोटी-छोटी दो गहरी और स्थिर आँखें...गाँव-टोले के लोग उसका इन्तजार करते रहे बाहर पर उसने जैसे किसी को नहीं देखा...पूरे दो दिन के बाद निकला अपने घर से और पहले राजू ठाकुर के पास गया। सैलून...

...बार-बार समझाता हूं खुद को ऐसे वाकये क्या हुए नहीं हैं? रोज होते हैं रोज। विचाराधीन कैदियों की संख्या लाखों में है, शायद जिसने अपराध किया ही नहीं और अपराधी छुट्टा घूम रहे हैं। नेता बन रहे हैं...ठेकेदारी कर रहे हैं...क्या होगा तुम्हारे द्वारा ऐसे लोगों की कहानी भर बना लेने से?.. इसकी सेहत पर भी कोई असर नहीं पड़ेगा। मान लो तुम उनकी कहानी सामने ले आते हो और पूरी दुनिया उसको देख भी लेती है तो इससे उस आदमी का क्या भला हो जाएगा? वह तो अब रहेगा अपने ही खेत में बाबू साहबों का मजदूर ही?

मेरे सामने आकर खड़ा हो गया है एक नौजवान घुंघराले बालों वाला युवक। पतला-

दुबला दिखता है, लेकिन अगर अपना टी-शर्ट उतार दे तो लगेगा कितना गठीला है शरीर...एकदम लोहे-सा मजबूत! घुंघराले बाल इतने काले और मजबूत! लगता है उसकी नस्ल में ही ऐसे सुन्दर बाल और गठीले शरीर सदियों से आते रहे हैं...जिसे किसी ने सुंदरता का प्रतीक नहीं बनाया, जबकि असली सौंदर्य यहीं है।

"ओका हिलोअ् एम हजुअ् कना" संथाली शब्दों के अर्थ तलाशते शब्दकोश भी असफल हो जाएंगे। सब अर्थहीन!! अर्थ है तो सिर्फ इसमें कि चारों ओर पसरी गरीबी! भयानक बेरोजगारी...और उन्हें कुछ नहीं पता बस दौड़ना जानते हैं संथाल नौजवान...सुबह 4-5 बजे से ही...शायद सिपाही भर्ती के लिए...दिकू!! दरअसल वही दिकू हो गया है इस गैर आदिवासी बहुल समाज में। एकदम अलग-थलग हैं उनकी बस्तियाँ...

ताड़ के पेड़ों पर मटके लटके हुए हैं। सड़क के किनारे एक पाँत में सैकड़ों पेड़ हैं, दोनों तरफ। चुनरू बेसरा के घर के पास बड़े से तालाब के चारों ओर भी ताड़ के पेड़ पर मटकी टांगी गई है। बस्ती के पूरब खेतों के पार जाकर बंसवाड़ी की फुनगी पर जब ललछौनी रोशनी आएगी और सूरज मटयाले बिल से चूहे की तरह निकलना चाहेगा तब तुलसी बेसरा का बेटा निमोछा बेसरा गमछा बांधे ताड़ गाछ पर धड़ाधड़ चढ़ेगा। मिट्टी के बर्तन को सुबह-सुबह उतार लाएगा और अपनी टाट-फड़की की दुकान में हाँडी भर के पीने के बर्तन लेकर बैठ जाएगा। ताड़ी पीने के लिए दूर-दूर से आते हैं लोग...कुछ छिपते-छिपाते भद्र जन ज्यादातर गुंडे मवाली रंगदार....। रंगदारी युवकों के लिए आकर्षक पेशा है.... ताड़ी के साथ चखना मिल जाए तो फिर मजा आ जाए।

एक मिट्टी का घर... सुन्दर सा घर। बाहर से भी खूब चिकनी मिट्टी की दीवारों से सजा...जैसे लगता है सीमेंट से चिकना किया गया हो...लेकिन है वह चाँप की गीली चिकनी मिट्टी से बना...संथाल औरतें बड़ी जतन से बनाती हैं जैसे उनके हाथों में दीवारों को चिकना कर देने का जादू है....दरवाजे पर एक खाट बिछाई गई है।

अफसर ने तुलसी से डाईट पूछी...डाईट? हाँ, अरे खाते क्या-क्या हो? कैसे ताकत आएगी? यह तो शक्ति का गेम है शक्ति आएगा तब न खेलेगा।...बासी भात? पानी में डालकर.. और प्याज... नून के साथ... ओए दादा!...मुर्गा? साहब ने इधर-उधर मंडराते मुर्गे को देखकर कहा....वो कैसे खाएंगे? अपना बच्चा है ना, पालते हैं। कभी-कभी परब-त्यौहार में...सोहराय या बधना परब में खेत पूजा कर मुर्गा चढ़ाते हैं और तभी खाते हैं....अफसर ने माथा पीट लिया...। यानी साल में एक बार?..नहीं बीच-बीच में भी...धार से मछली भी मारते हैं और शिकार पर भी जाते हैं न...कहीं कहीं जंगल-झाड़ में कुछ न कुछ मिल ही जाता है... हरी सब्जी खाता है कि नहीं....खीं..खीं.. हरा सब्जी बेचता है...कुछ बचा के रखता है तो हटिया मालिक तसील लेता है बट्टी में...। बट्टी? टैक्स सर...टैक्स..अफसर के साथ वाले सिपाही ने समझाया...

"सोनेलाल अपने बेटे को खूब खिलाओ-पिलाओ। हम इसको मोहन बागान भेजेगा" साहब बंगाली मानुस...इसलिए हरदम बंगाल और कलकत्ता की बात करेगा...।

"मोहन बागान जानता है?"

"हाँ अपने टोले के बाहर मोहन मंडल का बागान है...आम..इमली..अनार..लीची और आंवला खूब होता है...पर बड़ा कंजूस है मोहन मंडल..उसमें घुसने नहीं देता....बच्चे तहात को नहीं.."

"अरे बोका मानुस! हम फुटबॉल क्लब का बात कर रहा है तुम्हारे मोहन मंडल के बागन का नहीं...ये क्लब कलकत्ता में है...वहां खेलने पर पैसा और नौकरी दोनों मिलता है..."

सोनेलाल को जरा भी ध्यान नहीं कि इतने बड़े साहब आए हैं उसके दरवाजे पर तो कुछ खातिरदारी करें..धन्य भाग कि राजेंदर हेम्ब्रम उसके कान में फुसकी करता है....अरे साहब तुम्हारे लिए आया है...तुहारे बेटे की तरक्की चाहता है उनसे कुछ खाने पीने नहीं पूछोगे?...अरे हाँ सोने लाल झेंप गया...

"साहब चाय पीएंगे?"

"फिर कभी पी लेंगे।"

"साहब थोड़ा ताड़ी चख लीजिए ना।" साथ के सिपाही की आँखें चमक उठती हैं। "अच्छा लाओ थोड़ा-सा।" सिपाही गिलास लेकर बंसबिट्टी की ओर सरक जाता है.. साहब के सामने कैसे पीएगा....

साहब उठने लगते हैं..ड्राइवर गाड़ी स्ट्रार्ट कर चुका है...

"माई-बाप एगो अर्जी सुन लीजिए"

"हाँ बोलो सोने लाल" साहब के पाँव गाड़ी पर चढ़ते हुए अचानक ठिठक जाते हैं "हमरा ज़मीन वापस करा दीजिये..जीवन भर साहेब का गुण गाएंगे।"

"कौन जमीन?"

"हड़प लिया है हजूर।"

"कौन हड़पा तुम्हारी ज़मीन"

"साहेब हरेन सिंह। उसी के कामत पर काम करते हैं। जिस खेत पर खेती करते हैं वो हमरा है। अब वो कहता है कि तुम बँटैया कर रहे हो..।"

"इ कैसे हो गया?"

"एक बार कागज़ पर ठिप्पा लगा लिया था हुजूर। हमको पैसा का जरूरत था और हमको पैसा देने के एवज में ठिप्पा लगा लिया हम का जानते थे कि क्या है? हम ठहरे अनपढ़।"

"बिना पढ़े ठिप्पा लगा दिया? तुलसी तो पढ़ा है मैट्रिक तक उसी से पूछ लेते।"

साहब का माथा घूम गया। "अच्छा-अच्छा हम देखेंगे। पहले तुम अपने बेटे को खेलने भेजो। हम उसको आगे भेजेंगे। वजीफा दिलाएंगे। देखना एक दिन बहुत बड़ा खिलाड़ी बनेगा..." साहब की गाड़ी धूल उड़ाती निकल गई....

ब्लॉक में एक छोटा-सा स्टेडियम है...साहब भी खेलते हैं वहीं....साहब का साथी कोच है..वो भी बोलता है तुलसी तो कमाल का प्लेयर है! बॉल तो इसके पैर में सट जाता है जाके.. और इ सबको नचा देता है..इसके पैर में जहां गेंद फंसी कि किसी की मजाल नहीं कि गेंद छीन सके... गेंद सीधे गोल-पोस्ट में....

तुलसी रोज सुबह खेतों में काम करता और दोपहर को खाना खाकर ब्लॉक के उस छोटे

से स्टेडियम की ओर निकल पड़ता..कुछ दिन उसने मंडल टोली के सनोज की साईकिल उधार ली.. लेकिन कब तक ऐसा करता आखिर.. पैदल ही जाने लगा...कभी पैदल चलते-चलते दौड़ने लगता...वहां पहुँचता तो कोच साहब उसके इंतजार में रहते...बीडीओ साहब ने कम से कम इतना किया कि उसकी प्रतिभा की खबर जिले तक पहुंचा दी...स्टेडियम में लोग दूर-दूर से उसे देखने आते...और फुटबॉल के साथ उसकी धुन और पैरों से बॉल नचाने के जादू को अचंभित होकर देखते... इतनी भीड़ इस इलाके में लौंडा नाच या बाई जी का नाच देखने में ही होती...

हंसेरी का नाम सुना है...सन्नी पूछता है..। नहीं..हंसेरी आदिवासियों की सामूहिक चढ़ाई है वो जमीन जिसपर वो अपना खून-पसीना एक करते हैं। जब कोई उसकी जमीन को छीनने की कोशिश करते हैं तो वो सभी हाल-हथियारों के साथ उसका प्रतिरोध करते है हरेन सिंह को साहब ने कुछ कहा था.. "गरीब आदमी का हाए काहे लेते हैं। अब वो वाला जुग-ज़माना नहीं है"

"देखिये सर जी। कोई ज़माना रहे हिरेन सिंह की जो चाल थी वही रहेगी। जिसको जो उखाड़ना है उखाड़े।"

बीडीओ साहब कुछ नहीं बोल सके आगे। लगा ये मुंहफट आदमी नहीं सुधरने वाला है। लेकिन जब तक साहब कुछ और सोचते उनका ट्रांसफर हो गया।...अचानक?...हाँ...अचानक कुछ भी नहीं होता...बिदाई देने के लिए हिरेन सिंह अपने स्कोर्पियो से एक बड़ा वाला बुके, माला और मिठाई का पैकेट लेकर गया था।...साहब बस यह कहते हुए मुस्कुरा भर दिए.. "ऑल राईट हिरेन सिंह..सी यू अगेन.." और मिठाई का पैकेट ब्लॉक के स्टाफ में बंटवा दिया... ब्लॉक के ग्राउंड में शिवना ने दौड़ के तुलसी को खबर दी थी "अरे साहब जा रहे हैं।"

"कहाँ"

"उनका बदली हो गया"

"क्या"

तुलसी को काटो तो खून नहीं...अब क्या होगा...एक साहब ही तो उम्मीद थे।

जाते समय साहब से मिलने की हिम्मत नहीं हुई तुलसी की...अब क्या? साहब को देख नहीं पाएगा....उसने स्टेडियम से सीधे घर की राह पकड़ी...

रास्ते भर शिवना उसे समझाता रहा...देखो अब फुटबॉल का मोह छोडो..कल सुबह से सिपाही के दौड़ का अभ्यास करो...हम भी करेंगे...तुम आराम से कर जाओगे...हम तुमको फॉर्म भरवा देंगे...हाँ पर पैरवी-पट्टा में कुछ पैसा लगेगा...अरे घूस देना पड़ता है...कहाँ से लाएगा पैसा तुलसी?

रात को नींद नहीं आ रही तुलसी को...बार-बार शिवना की बात याद आ रही है..तुलसी कुछ नहीं तो तीन बीघा जमीन वापस करा लो हिरेन सिंह से....जमीन हाथ में रहेगी तो घूस-घास के लिए अच्छा रहेगा....इस इलाके का नामी बदमाश या बाग़ी जो कहो..वो है लुत्तन यादव...बोलो तो छेदिया से बात करते हैं। उसी के गैंग का है...

तुलसी अपने बाप से पूछेगा।

"भकचोन्हर! मत बताना ये सब बात।"

तुलसी का अब खेल में मन नहीं लग रहा एक तो पैसे की किल्लत दूसरे कोई आसरा नहीं खेवनहार नहीं। साहब कितना मानते थे!

...दोपहर के बाद का समय था....ये एकदम बीहड़ इलाका था। बहुत नजदीक रहते हुए भी तुलसी पहली बार आया है यहाँ। एक छोटी-सी बरसाती धारा के उस पार। बिलकुल सुनसान इलाका। शिकार के लिए भी अपने साथी-संगी के साथ कभी-भी धार के पार नहीं गया...उसे डर लग रहा है। ऐसी जगहों के बारे में उसकी कल्पना में चांदनी रात का जादू छा जाता है...झक-झक इन्जोरिया रात हो तो...लेकिन हकीकत की ऊबड़-खाबड़ जमीन पर उसकी तन्द्रा टूटती है... रायफल लिए हुए तीन आदमी उसे लिए जा रहे है.. एक बड़ी-सी आमबाड़ी के हाते में। दूर-दूर तक आम के बड़े-बड़े पेड़ हैं...उसी बीच एक मडैया में घनी मूछों वाला एक आदमी पसरा हुआ है चौकी पर...शिवना बार बार छेदी से अपनी निकटता साबित करने के लिए खैनी लटा के खाने का आग्रह कर रहा है पर वह बार-बार उसे झिड़क रहा है...

"तो तू है तुलसिया फुटबौलर"

"जी हुजूर" आसपास 15-20 घोड़े बंधे हैं और उतने ही सवार अपनी-अपनी रायफलों के साथ...तुलसी की तो घिग्गी बंधी हुई है। कहाँ फंस गया वो...

"तो हरेन सिंघ ने तुम्हरा खेत चुरा लिया है।"

"जी, हड़प लिया है।"

"हाँ वही। चोर है साला। एक मुक्का में तो हग देगा उ बहेनचो.."

"जी।"

"तुम्हरा कितना खेत था रे तुलसिया?"

"तीन बीघा हुजूर।"

"हाए रे अभागा। और जादे बताने में तोरा झांट जल रहा था।"

"उतना ही था"

"भक साला इमानदार के महात्मा गांधी!"

तुलसी का डर के मारे हालत खराब। मुंह से बकार नहीं फूट रहा था..

"अच्छा सुनो तुलसिया हम तुम्हरा खेत वापस करवा देंगे... लेकिन हमको क्या दोगे?"

"जी..हम क्या?"

"बोल न बेटीचो गीदर का बच्चा है क्या रे..डरता काहे है...तीन बीघा में अधिया मोरा अधिया तोरा...और सुन पचास सौतार को तुम तैयार रखना...हंसेरी होगा..उ मादरचोद हरेन सिंह को हम देख लेंगे...तुम्हारे घर इस अमावस से एक रात पहले हाल-हथियार सब पहुंच जाएगा।"

गर्मी का महीना नहीं था यह...जाड़ा ने अपना खोल उतार कर रख दिया था उतना भर ही जाड़ा जैसे सांप अपना केंचुल उतार कर आगे बढ़ जाता है...लेकिन तुलसी बेसरा पसीने से

सराबोर हो गया था। धार के किनारे पानी कम होते ही कुछ कंटीली वनस्पतियाँ उगी हुई थीं जिसमें पीले-पीले फूल खिल रहे थे। तुलसी अपना ध्यान हटाने के लिए फूलों को देख रहा था। धार के किनारे तक तीन रायफल वाला छोड़ने आया था उसमें शिवना का तथाकथित साथी छेदी नहीं था। इसलिए शिवना भी पूरी तरह शांत ही था उसे भी कोई चुहल नहीं सूझ रही थी.. धार का पाट भले ही चौड़ा हो पानी ज्यादा नहीं रहता..बलुआही जमीन वाला निचला तल साफ़-साफ़ दिख रहा था। जब आधी दूर उस ताल में चलते-हुए पार हुआ तब जाकर उसे उन रायफल वालों का डर ख़त्म हुआ...उस किनारे झक-झक साफ़ पानी में कई मछलियाँ तल में तैरती नजर आईं..अगर कोई आम दिन होता तो वह सुल्फा लेकर पहुँच जाता मछलियों का शिकार करने को..लेकिन आज....

घर पहुंचा तो अँधेरा घिर गया था...अँधेरे में जो उसने देखा वह तो भीतर तक सिहर गया...दुआर पर पांच-छः मोटरसाइकिलें खड़ी थीं.. उसके दरवाजे पर 10-12 लोग थे..कुछ खाट और कुर्सियों पर कुछ मोटरसाइकिल पर नीचे पैर टिका के बैठे हुए...उसका बाप इनलोगों की खातिरदारी में जुटा था...चुआया हुआ सारा ताड़ी साफ़....ताड़ी सुबह पीने की चीज है लेकिन ये लोग..

"आ गया हुजुर मेरा बेटा तुलसी।"

"कहाँ गया था रे तुलसिया? लम्बे-तगड़े छह फुट ऊँचे अपनी बुलेट मोटरसाइकिल पर एक ही ओर पैर कर बैठा एक आदमी बोला...

"और कहाँ जाएगा बाबू साहेब? खेलने गया था.." तुलसी के बाप ने तुलसी का पक्ष लेते हुए कहा। तुलसी को एकदम बध लग गया जैसे...मुंह में जैसे शब्द अटक गए हों....

"अरे बुड्ढा तुम चुप रहोगे.. हम इससे पूछ रहे हैं...इ हरामी के पिल्ला से।" तुलसी को ढिबरी की जलती रौशनी में सबकी कमर पर नजर पड़ी जहाँ एक-एक पिस्टल बंधा था। उसे समझते देर नहीं लगी कि ये सभी बुल्ला सिंह गैंग के आदमी है.....एक आदमी तुलसी का एक हाथ पकड़ कर लगभग खींचते हुए बंसबिट्टी की ओर ले गया और फिर लौट आया... फिर धड़ाधड़ सारी मोटरसाइकिलें एक के बाद एक स्टार्ट हो गईं...और फिर पूरब दिशा की ओर निकल गईं...

तुलसी को पूरी रात अनिद्रा के बीच नींद के हिचकोले आते रहे...वह नींद की मायावी दुनिया में प्रवेश करना चाहता रहा पूरी रात...उसे पृथ्वी तेजी से घूमती नजर आती...दरअसल वह पृथ्वी नहीं फुटबॉल था जो उसके पैरों के इशारे पर नाच रहा था...लेकिन अचानक वह खुद फुटबॉल में बदल जाता...अजीब होते हैं अनिद्रा और नींद के बीच के किस्से! बे सिरपैर के..वह उठकर बाहर जाता है बंसबिट्टी की तरफ। आसमान के तारे अब मलिन हो रहे हैं..पूरब की ओर से लालिमा की हल्की गुलाबी चादर तन रही है..उसी रौशनी की चादर की तरफ..उसके टोले से लगभग तीन किलोमीटर दूर एक मेला लगा है..एक छोटा-सा खूबसूरत मेला...वह उसी की कल्पना में खो गया है....सौतारों की एक से एक सुंदरियाँ यहाँ पहुँचती हैं...हर ओर से यहाँ के मेले से ही कई जोड़े बन जाते हैं...तुलसी बेसरा भी अपने टोले के कई नौजवानों के साथ वहाँ पंहुचा है। तुलसी की नजर एक लड़की को बड़ी बेसब्री से ढूँढ़ रही

है...उसे प्यार से लोग पंछी कहते हैं..तुलसी जानता है कि वो लड़की उसके खेल की दीवानी है...जहाँ-जहाँ वह खेलने जाता है भीड़ की आँखों में एक आँख उस पंछी की भी होती है...ओ री पंछी कितनी खूबसूरत हैं तुम्हारी वे आँखें जो तुलसी के पैरों के जादू में जाकर अटक जाती हैं....जो तुलसी के पैरों को थोड़ी और गति दे जाती हैं...उसके शरीर की ऊर्जा को थोड़ी और तेज कर जाती हैं.... "और ये गोल!" कमेंट्री करने वाले की आवाज दस गुना तेज हो जाती है... "ये तुलसी बेसरा का आज का बारहवां गोल है..." लाउडस्पीकर की आवाज बाँस के जंगलों से इको होकर लौट रही है....गोल...गोल..गोल..

पंछी उस भीड़ में नहीं है..पंछी उसे उस भीड़ से अलग श्रृंगार-पिटार की दूकान में बुला रही है...ओह दूर से ही खिलखिला रही है साथ में उसकी दीदी (दई) भी है...क्या पसंद आया पंछी को! कांच की हरी-हरी चूड़ियां...उतना पैसा तो है तुलसी के पास...पंछी की दई पूछती है "कैसी है हमारी पंछी?...पसंद है?..तुलसी के चेहरे पर एक भीनी-सी मुस्कान फ़ैल जाती है...

"कल बाबा-मां से मिल लेना आकर"

"हूँ" इतना ही निकलता है तुलसी के मुंह से। वह हड़बड़ी में झिलिया-मुढ़ी औरे जलेबियाँ ले आता है... "खाओ ये धुरखा की दूकान का है..." धुरखा की आवाज दूर से ही सुनाई पड़ती है "बारह मसाला तेरह स्वाद वाला...भूजा..झिलिया मूढ़ी आइए खा के जाइए"

रात भर नाच चलता रहा मेले में और तुलसी नाच देखकर अपने संगी साथी को घर भेज कर सुबह-सुबह पंछी के बाबा और गोगो(मां) से मिल आया...कितनी अच्छी हैं पंछी की गोगो...उसकी माँ तो अब थी नहीं....। शाम होते-होते पंछी के बाबा आ गए थे तुलसी के घर... दो दिन के बाद शादी.....

.....यह शादी की सातवीं रात थी...अमावस......हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था....रात के दूसरे पहर तुलसी के घर हंसेरी का जायजा लेने एक घोड़ा रुका और उससे एक घुड़सवार उतरा। तुलसी के चेहरे पर हवाइयां उड़ रही हैं...उसने अपनी ओर से संथाल युवकों को कह दिया था....पंछी के घर में भी यह खबर दे दी गई थी..। सभी महिलाओं को सुरक्षित जगहों पर पंहुचा दिया गया था..तय था कि सब हल हथियार के साथ पहुँच जाएंगे और मध्य रात्रि में हिरेन सिंह के कामत को घेर लेंगे...लेकिन सबसे बड़ी दुविधा ये थी कि लुत्तन यादव और तुल्ला सिंह आपस में उलझ गए थे गैंग वार की आशंका से तुलसी का मुंह सूख गया अब वह इस मसले से बाहर निकलना चाह रहा था...उसने संथाल युवकों को सिर्फ डर और आशंका के कारण बुलाया था....अब उसका हट पाना असम्भव था...

सबको इन्तजार था कि कब घुड़सवार आएं और छुपे हुए युवक दनदनाकर हिरेन सिंह के कामत पर चढ़ाई करें...लेकिन उससे पहले चारों तरफ हाहाकार मच गया। गोलियां की आवाजें आने लगीं..हिरेन सिंह के कामत में पहले ही आग लग गई...संथाल युवक अपनी बस्ती में छिपे हुए थे...मोटरसाइकिलें उसकी बस्ती के पास आकर रुक गई थीं। बाहर की हलचलें मालूम चल रही थीं। सभी दम साधे इन्तजार कर रहे थे...बंसबिट्टी और ताड़ के पेड़ों की ओट में छिपे हुए...किसी भी आगत की आशंका से मवेशियों के कान खड़े हो गए थे। दूसरे टोले

के लोग सिर्फ मूक दर्शक थे और तमाशा देख रहे थे। अचानक पेट्रोल बम से संथालों की बस्ती अशांत होकर घू-धू जलने लगी...तुलसी बेसरा खेत की ओर भागा.....संथाल युवकों ने मुश्किल से एक-दो तीर चलाए लेकिन पेट्रोल बम और गोली के आगे उनकी नहीं चल सकी....तुलसी बेतहासा भागता गया...उसके हाथ में धनुष था और कमर से बंधी हुआ तरकस..जिसमें तीर अभी भी भरे हुए थे....उसने अँधेरे में ही अंदाज से एक दो तीर चलाए..लेकिन वह रुक गया...अँधेरे में अपने आदमी को भी तीर लग सकता था...उसने चुनरू बेसरा के पोखर पर जाकर वापस बस्ती की ओर देखा तो दिल से एक भयानक हूक उठी...पूरी बस्ती पुआल के ढेर की तरह जल रही थी...यहाँ-वहाँ पुआल के ढेर रखे हुए थे....इससे आग और तेजी से भड़क रही थी....घुड़सवार का कहीं अता-पता नहीं था....वे फरार हो गए थे...चारों ओर सिर्फ मोटरसाइकिल की आवाज सुनाई पड़ रही थी और बीच-बीच में गोलियों के चलने से शान्ति भंग हो रही थी.. झाड़ियों में तुलसी के साथ उसी की बस्ती का युवक सकलाल मुर्मू रात भर डर से थरथाराता रहा..सुबह सूरज के उगने से पहले स्लेटी अँधेरे में वह अपनी बस्ती में वापस आया...अभी भी अधजले घर से धुआं निकल रहा था...पक्षियों के जलने की चिरायन गंध और मवेशियों की लाशें....लगता था कुछ लोग ही बचकर भाग पाए होंगे...तुलसी को अपने बाबा की चिंता हो रही थी...उसका कोई अता-पता नहीं था..तुलसी का घर स्वाहा हो चुका था...

दूसरे दिन सुबह से ही पुलिस की जीप इधर से उधर भटक रही थी...खबरे उड़ रही थीं आग की लपटों में उड़ने वाले चिंदियों की तरह..कि पुलिस ने फलां को पकड़ लिया है... भटकती आत्माओं वाले पत्रकार इधर-उधर से ख़बरें जुटा रहे थे...सारे अख़बार 'हंसेरी' और संथालों द्वारा जबरदस्ती जमीन के कब्जे की आगजनी की बात को तूल देने में लगे थे। बस एक पत्रकार ने लिखा था कि... 'सूत्रों से पता चला है कि अपनी चौखंडी में भी आग खुद हिरेन सिंह के आदमी ने लगाईं थी और संथालों की बस्ती में भी पेट्रोल बम तुल्ला सिंह से मिलकर हिरेन सिंह ने ही फेंकवाया...उसे लोगों ने आराम से स्कॉर्पियो से घूमते हुए देखा...थाने में भी थानेदार से खूब हँस-हँस कर बातें कर रहा था....' उस पत्रकार की तलब थाने पर की गई...अगले दिन से फिर से ऐसी ख़बरें छपनी बंद हो गईं। फिर हर ओर शांति छ गई...

तुलसी बेसरा का सबकुछ खत्म हो गया था...वो भाग रहा था...दौड़ा जा रहा था...वो कोई खेल का मैदान नहीं था...बीहड़ था...जहाँ पैरों में छाले पड़ गए थे..उसकी सुनने वाला कोई नहीं था.....उसे उस घटना के बाद पुलिस चारों ओर खदेड़-खदेड़ कर ढूँढ़ रही थी...पुलिस और हरेन सिंह के भेदिया के कारण चौथी रात लगभग दो बजे पुलिस ने तुलसी को पंछी के घर से उठा लिया और उठाकर थाने ले गई....वहां हर सिपाही ने जी भर भड़ास निकली और हाथ साफ़ किया..फिर एफ.आई.आर. में अगलगी, डकैती और अटेम्प्ट टू मर्डर का केस ठोंक दिया...

ठीक दस साल बाद...तुलसी बेसरा के जेल से छूट कर आने के महीने भर बाद....दिन ऐतबार...हमारी स्कोर्पियो उसके दरवाजे पर पहुंची...हम..घटनाओं के इतने वर्षों बाद फिर से उन जख्मों को कुरेदने पहुंचे थे यह मानकर कि यह हमारा अधिकार है...। वो एकदम शांत

था...पत्थर की तरह...वो अभी हमारे प्रश्नों की जद से दूर था...अभी हमारे सामने सोनेलाल बेसरा था....

"घटना की रात और क्या-क्या हुआ था चाचा?" प्रश्न सुनते ही सोनेलाल बेसरा का मुंह सूख गया....

"आपलोगों को कुछ नहीं होगा? कैमरा देखकर घबराइए नहीं"

"अब होना क्या बचा रह गया है बेटा? सब कुछ तो हो गया...जमीन के लिए हुआ वो भी नहीं मिला।"

"कैसे निकले यहाँ से"

"चार बज रहा था...हम भाग के पिछले रास्ते पर गए...आगे तो उ जल्लाद सब मोटरसाइकिल से तैनात था...बम पटक रहा था।"

"फिर"

"पछाई गाँव का सोमरू मुसहर अपने टोले के लोगों के साथ पंजाब जा रहा था...वही बोला चलो...अब क्या? रहोगे तो मार देंगे वो लोग।"... "और फिर ट्रेन पकड़ कर पंजाब चले गए उसके साथ....एक साल बाद वापस लौटे।"...अब बस्ती को देखकर नहीं लगता था कि ऐसा भी कुछ हुआ होगा....माहौल एकदम शांत हो गया था...पास के ही चुनरू बेसरा के पोखर के पानी की तरह.. उजड़ी हुई बस्ती में कुछ घर फिर से बन गए थे...

"पंजाब में जो भी कमाए उससे इ घर बन गया...मेहनत से घर तैयार किया और पंछी और उसके तीन महीने के बच्चे को घर ले आया...इ निमोछा को देख रहे हैं? यही था तीन महीने का। इतना सा " सोनेलाल ने हवा में दोनों हाथ से इशारा किया...

तुलसी खटिया पर बैठा था और हम प्लास्टिक की कुर्सियों पर...

"कितना साल जेल में रहे?"

"दस साल दो महिना तेरह दिन"

"कोई साथी-संगी बना जेल में?"

"हाँ एक था..नामी क्रिमिनल था चिल्हा नाम था"

"चिल्हा? ये कैसा नाम है"

"हाँ चील की तरह आँखें थीं...8 खून किया था..बोलता था 7 खून तो माफ़ हो जाता पर आठवाँ कर के गलती कर दिया..."

"और क्या खूबी थी चिल्हा में"

"उसको क्रिकेट बहुत पसंद था। हमेशा सब से स्कोर पूछता था।"

"फ़ुटबाल?"

"कहता था धरती भी एक फुटबौल है"

"अपने बेटे को फुटबौलर नहीं बनाएंगे?"

"वह तो ताड़ के पेड़ पर फुर्र से चढ़ जाता है। ताड़ी चुआने में माहिर है.."

"आप कभी जेल में रोए कि नहीं"

"भक! हमको रोना आता कहाँ है? चिल्हा हमको खूब हंसाता था..गुदगुदी लगा-लगा

कर।"

"जेल में किसी की याद आती थी?

"बस एक आदमी की याद आती थी"

"किसकी?"

"बीडीओ साहब की...उ भी पागल थे जाने काहे बोलते थे कि तुलसी तुम इस जिला..राज्य और देश का नाम रौशन करेगा...हमको आज देखते तो हँसते...."

"अच्छा छोड़िये ये बताइए कि किसी पर गुस्सा आता है?

"हाँ"

"किस पर"

"बाबा पर"

"क्यों"

"कि हमको रोना क्यों नहीं सिखाया"

"अच्छा आखिरी सवाल...माराडोना और फिदेल कास्त्रो का फोटो देखे हैं?"

"हाँ चिल्हा दिखाया था..इधर उ जेल में नया मोबाइल मंगवाया था उसी में दिखाया था...। जब हम बोले थे कि हम भी फुटबॉल...और वो चिट्ठी जो बाबा जेल लेकर आए थे..।"

"चिट्ठी! किसकी?"

"बहुत पुरानी चिट्ठी थी। बहुत पहले आई थी..पर बाबा भूल गए थे...अब रहने दीजिए..."

"अरे बताइए"

"चिट्ठी बीडीओ साहब की थी और साथ में कलकत्ता का टिकट था।"

"क्या लिखा था उसमें"

"फोन कहाँ था? हम जेल में थे.."

"साहब रिटायर होकर कलकत्ता चले गए थे..."

"बस इतना ही लिखा था?"

"लिखा था कि उन्होंने मोहन बागान से मेरे बारे में बात कर ली है...सब कुछ का इंतजाम वही कर देंगे...इसलिए टिकट भी...ट्रेन का..."

गर्मी की शाम में हवा के चलने से हलकी राहत की अनुभूति होने लगी थी...हमने कैमरे के स्टैंड को समेट लिया था...तुलसी का बेटा निमोछा और टोले के कुछ बच्चे ताड़कोल के उस कड़े फल से फुटबॉल खेल रहे थे.. निमोछा ने एक शॉट मारा तो ताड़कोल का वह गोल गेंद खाट पर बैठे तुलसी के पास पहुँच गई...अचानक तुलसी की देह में हरकत हुई और वह खड़ा हुआ..उसने अपनी लुंगी संभाली और जोर का शॉट मारा...ताड़कोल की फल हवा में उड़ा और अचानक हवा में ही वो फट गया...उसके छिलके चारों तरफ बिखर गए....।

❖

एक गिद्ध का इंतेज़ार

फ़रज़ाना महदी

दरवाज़े पर ज़ोरों की ठक-ठक हो रही थी, डोर बेल लगातार बज रही थी, मोबाइल की रिंगटोन नानस्टाप बजे जा रही थी। उन्होंने सोचा कि आख़िर दरवाज़े पर कौन हो सकता है, उनके दिमाग़ में सिर्फ़ एक ही शब्द कौंधा...गिद्ध...उनके चेहरे पर हल्की सी सुकूनबख़्श मुस्कुराहट फैल गई।

एम्बुलेन्स की हाऊं-हाऊं की आवाज़ दूर से क़रीब आती सुनाई दी और फिर तेज़ी से कहीं दूर निकल गई। पहले इस तरह की आवाज़ कम ही सुनाई देती थी और वो हमेशा इस आवाज़ को पुलिस की गाड़ी का सायरन समझ नज़रअंदाज़ कर देते थे। लेकिन पिछले एक हफ्ते से उनके कान बस इसी आवाज़ पर लगे रहते हैं कि शायद इनमे से कोई मेरे घर तक भी आ जाए। हर दो-चार मिनट पर कोई न कोई एम्बुलेन्स गजुरती और उनके कान खड़े हो जाते।

उन्हे ख़्याल आया कि तीन दिन पहले फ़सेबुक पर मदद के लिए एक पोस्ट की थी।

उन्होंने जल्दी से मोबाइल उठाया। कांपते हाथों में मोबाइल को संभालने में थोड़ा-सा समय लगा। सिर को थोड़ा-सा झटक कर आंखें फैलाई और पलकें दो-चार बार झपकाईं ताकि स्क्रीन कुछ साफ़ दिखने लगे। उनकी इस पोस्ट पर उम्मीद से ज़्यादा कमेंट पड़े हुए थे। उन्होंने एक-एक कमेंट को पढ़ना शुरु किया–

"आप घबराइए मत हम आपकी मदद करने को तैयार हैं।"

"ओह नो, ये तो बहुत बुरा हुआ।"

"रिप"

"रिप"

"रिप"

"श्रधान्जली"

"नमन"

"नमन"

"ये सरकार सिर्फ निकम्मी ही नहीं असंवेदनशील भी है, यहां लोगों की जाने जा रही हैं

और हमारे मुख्यमंत्री बंगाल में रैलियां कर रहे हैं।"

"आप यहां भी आ गए पॉलेटिक्स खेलने।"

"हमारे कुछ दोस्त ऐसी बॉडीज़ को शमशानघाट पहुंचाने का काम कर रहे हैं हम उन्हें आपका नम्बर सेंड करते हैं।"

"उफ़, आप अपना ख़्याल रखिए।"

"आप बॉडी से दूर रहिए अंकल और अपना आक्सीज़न लेवल चेक करते रहिए।"

"आप घबराइए मत सारा देश आपके साथ है।"

"ओह नो।"

"रिप"

"रिप"

"नमन"

"रिप"

उनकी आंखें चैंधियाने-सी लगीं। मोबइल टेबल पर रख वो आंख बंदकर बैठे रहे। लाश से उठती बदबू सीधे उनकी नाक तक पहुंच रही थी। हलांकि उनकी नाक बंद थी पर फिर भी हल्का सा बदबू का एहसास उन्हे हो ही जा रहा था। और वो एहसास ये सोचकर और गहरा हो जाता कि ये किसकी लाश से उठती हुई बदबू है। उनपर फिर खांसी का दौरा पड़ा। जब उससे उबरे तो खंखारकर ढेर सारा कफ़ डिसबिन में थूक दिया। उन्होंने हाथ बढ़ाकर मोबाइल दोबारा उठाया, वैसे मोबइल को वो मेज़ पर रखते ही कब थे। तीन दिन से मोबाइल उनके शरीर का एक अभिन्न अंग बन गया था, एक ऐसा अंग कि जिसपर उन्हे अब सबसे ज़्यादा भरोसा था। मेडिकल हेल्प लाइन नम्बर पर आज फिर कॉल लगाया। थोड़ी ही देर में कॉल रिसीव हो गई–

"नमस्कार, आपने चिकित्सा सेवा केन्द्र के हेल्प लाइन नंम्बर पर कॉल किया है। हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं।"

उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया बस किसी शून्य में खोए बैठे रहे। उधर से फिर यही शब्द दोहराए गाए, वो फिर कुछ नहीं बोले। कुछ देर यूंही चलता रहा और फिर उन्होंने मोबाइल मेज़ पर रख दिया।

उनके चेहरे पर बेचारगी के भाव साफ़ झलक रहे थे पर उन्होंने अभी हार नहीं मानी थी, पत्नी की बदबू मारती लाश उन्हे जीने का हौसला दे रही थी।

कानों के पास मक्खियां भिनभिना रही थीं, एक-आद उनके चेहरे या हाथ पर आकर बैठ जातीं तो वो उसे हलके झटके से उड़ा देते, लॉबी की एसी तो पांच दिन से बंद ही थी लेकिन गर्मी ज़्यादा होने की वजह से पंखा लगातार चल रहा था। पर पंखे की हवा में इतनी ताब न थी कि वो मक्खियों को दूर रख सके, वैसे अगर एसी चलाते तो शायद अब उससे भी कोई फ़ायदा न होता। ख़ैर मक्खियों और चीटियों की तादात में होती लगातार बढ़ोतरी को नज़रअंदाज़ करते हुए क़लम उठाया और वो अपनी नोटबुक पर कुछ लिखने लगे।

"शायद ये मेरे आख़िरी नोट्स साबित होंगे। हालांकि डायरी के बहुत से पन्ने अभी सादे

पड़े हैं, पेन की रिफ़िल स्याही से भरी हुई है, दिमाग़ में ख़्याल उधम-चौकड़ी मचा रहे हैं, पर सब बेकार है, ये सब जल्द ही थमने वाला है। नहीं-नहीं धरती की रफ़्तार नहीं थमने वाली। वो तो अब और तेज़ होगी, क्योंकि इन्सानी क़दम जो धरती की छाती पर अपना बोझ लादे हुए हैं वो क़दम जल्द ही उखड़ने वाले हैं। पता नहीं इन्सानी बोझ से हल्की होने पर धरती चैन की सांस लेगी या नहीं लेगी, क्या होगी उसकी मनोदशा! ख़ैर जो भी हो मुझे उससे क्या? कौन सा मैं मौजूद हूंगा उसकी हालत का जायज़ा लेने के लिए उस वक्त। पर अभी तो मौजूद हूं न और अभी की सूरते हाल ये है कि धरती हमारे बोझ से कराह रही है, उसे भूख लगी है, उसे खाने में चाहिए इन्सानी लाशें, धरती आदमख़ोर हो गई है। अम्मा कहती थी कि जब इन्सान में दर्द को बर्दाशत करने की सकत चुक जाती है तब धरती माता उसे अपनी कोख में छुपा लेती है और वहां इन्सान को बड़ा सुकून हासिल होता है। अम्मा भोली थीं उन्हें धरती की भूख कभी नहीं दिखाई पड़ी। अम्मा ग़लत थीं। नहीं-नहीं अम्मा सही थीं, धरती को भूख नहीं लगी है, इन्सानी लाश की तो हरगिज़ नहीं। अगर उसे इन्सानी लाश की भूख होती तो बहत्तर घण्टे से जो मेरे घर में एक इन्सानी लाश पड़ी हुई है वो इसे मुह खोलकर क्यों नहीं निगल जाती।

"ज़िन्दगी एक सफ़र है सुहाना...." मोबाइल की रिंग टोन बजने पर उनकी एकाग्रता टूटी। अमेरिका से उनके इकलौते बेटे रॉबिन की कॉल थी। उन्होंने झट क़लम को रख कॉल रिसीव किया।

'हलो' बोलना चाह रहे थे लेकिन हलक़ में इस क़दर कफ़ जमा था कि मुह से आवाज़ न निकल सकी। उन्होंने पहले खंखारकर सारा कफ़ डिसबिन में थूक दिया फिर रुमाल से नाक को साफ़ किया और फिर दोबारा से मोबाइल कान से लगाया–

"हैलो रॉबिन कुछ इन्तेज़ाम हुआ?"

"डैडी मै पूरी कोशिश कर रहा हूं।"

"अरे ख़ाक कोशिश कर रहे हो...." वो अभी अपनी बात पूरी करते कि उसके पहले ही खांसी शुरु हो गई जो कि पन्द्रह-बीस सेकेंड तक लगातार चलती रही। खांसी से राहत पाई तो उखड़ी-उखड़ी सासों के साथ दोबारा बात करनी शुरु की–

"बेटे अब तो लगता है मैं भी कुछ देर का मेहमान हूं...."

"ऐसा मत कहिए डैडी।"

"तुम्हारी मां की लाश अब बदबू करने लगी है।"

"रुम का एसी तो चल रहा है न।"

"इतने दिन तक बॉडी सही अवस्था में बर्फ़ की सिल्ली पर भी नहीं रह सकती तो भला एसी में कितना दम...."

"क्या पूरे अपार्टमेटं में एक भी बन्दा नहीं जो हमारी हेल्प कर सके?"

"यहां हमे कौन जानता है।"

"आपके कलीग, रिश्तेदार।"

"यहां आस-पास कौन है? जो हैं उनकी हिम्मत नहीं हो रही यहां आने की और कइयों के

यहां तो ख़ुद पेशेंट मौजूद हैं। सबसे बात कर देख लिया कोई फ़ायदा नहीं। अब तुम ही कुछ करो।"

"सभी हेल्प लाइन पर लगातार ट्राई कर रहा हूं लेकिन....."

उन्होंने मोबाइल नीचे रख दिया। शायद जवाब जानते थे या शायद सुनना नहीं चाहते थे। वो दो क़दम बेड रुम की ओर बढ़े कि जहां उनकी पत्नी बहत्तर घण्टे से मृत अवस्था में लेटी हुई हैं। लेकिन उनके बढ़ते क़दम न जाने क्या सोचकर रुक गए। कुछ क्षण वहीं खड़े दरवाज़े के पास चीटियों के लिए खीची लक्ष्मण रेखा को देखते रहे फिर वापस आ अपनी कुर्सी में धस गए। पैरों की कंपकपी और बढ़ गई थी। सीने का भारीपन पहले की तरह बरक़रार था आंखें लहू सी गर्म और पलकें भारी हो चली थीं। बीच-बीच में उनके हलक़ से ज़िबह किए बकरे-सी आवाज़ निकल पड़ती। वो कुछ पल इसी अवस्था में सिर नवाये बैठे रहे। मक्खियों का एक झुंड ठीक उनकी नाक के नीचे आकर बैठ गया पर उनको इस बात का होश नहीं था। उनपर बेहोशी तारी हो गई थी। तीन दिन से वो लगातार बेहोश हो जाते थे, कुछ कमज़ोरी के सबब कुछ मायूसी, उदासी और कुछ न करने की लाचारी के सबब, वो क़रीब सात-आठ घण्टे यूंही बेहोश पड़े रहे और फिर अचानक से चौंक पड़े। चौंके क्या थे बस चौंकने की कोशिश-सी की थी। चौंकने भर की भी सकत कहां बाक़ी रह गई थी उनमें वो इसी ख़्याल में डूबे कुर्सी पर बैठे रहे कि–

'आखिर मैं कितनी देर से यूं नीम बेहोशी की हालत में पड़ा रहा। एक मिनट, एक घण्टा, एक दिन, एक साल या एक सदी.... वक्त उनके लिए रुक गया था, एक मिनट और एक सदी के बीच के फ़ासले को वो भूल चुके थे। वो सब कुछ भूल चुके थे, वो सब कुछ भूल जाना चाहते थे सिवाए उस एक बदबू मारती लाश के कि जिसे वो जल्द से जल्द शमशान पहुंचाना चाहते थे।

वो कुर्सी के हत्थों पर हाथ रख उठना चाहते थे पर शरीर ने साथ नहीं दिया। उन्हें अपनी ये हालत देख बड़ी हैरत हुई।

"अभी तो मैं कुर्सी से उठकर उस कमरे की ओर बढ़ा था और फिर वापस आ बैठ गया था। इतनी जल्दी ये हालत कैसे हो गई?"

उन्होंने सर को दाहिनी ओर की दीवार की तरफ़ थोड़ा-सा घुमाया कि जहां दीवार घड़ी टंगी थी। वहां घड़ी तो नज़र आई लेकिन वो अपनी नंगी आंखों से वक्त का अंदाज़ा नहीं लगा पा रहे थे। मेज़ पर से चश्मे को उठा आंखों पर पहना। उन्होंने अपने हिसाब से ये प्रक्रिया बहुत तेज़ी में की थी पर वास्तव में उनकी रफ़्तार इतनी धीमी थी कि कोई भी इन्सान उनकी इस प्रक्रिया को देख समझ जाता कि वो बहुत कमज़ोर और बीमार हैं। उनकी नज़रें दोबार दीवार घड़ी पर जा टिकी। घड़ी में सात बज रहे थे। उन्हे ये देख ताज्जुब हुआ कि आख़िर इतनी जल्दी शाम कैसे हो गई। रॉबिन से तो सुबह बात की थी शायद। अपने विचार को पुख़्ता करने के लिए मोबइल को उठाया। स्क्रीन पर अब कुछ भी साफ़ नज़र नहीं आ रहा था। काफ़ी मशक्कत करने पर बस इतना ही देख सके कि रॉबिन की 158 मिस्ड कॉल पड़ी हुई थी। बहुत कोशिश करने पर भी वो ये नहीं समझ सके कि आख़िर रॉबिन से आख़िरी बात

कितने बजे हुई थी या और किन-किन लोगों की मिस्ड कॉल पड़ी हुई है। शरीर उनका साथ छोड़ता जा रहा था पर दिमाग़ अभी भी काफ़ी दुरुस्त था। वो ये बात तो समझ ही गए थे कि वो काफ़ी देर से इसी कुर्सी पर पड़े हुए थे। पर कितनी देर से इस बात का वो सही अंदाज़ा नहीं लगा पा रहे थे। उनपर अचानक से ख़ौफ़ तारी होने लगा। इस बात से नहीं कि वो इतनी देर तक कुर्सी पर पड़े रहे, बल्कि इस बात से कि वो कितनी देर तक सोते रहे इस बात का उन्हे कोई अंदाज़ा ही नहीं है। नींद तो छोटी हो या बड़ी, आंख खुलते ही अंदाज़ा हो जाता है। पर इस बार ऐसा कुछ नहीं हुआ। क्या ये मौत से पहले की नींद थी। उनका ख़ौफ़ और गहरा हो गया था। ख़ौफ़ मौत के आने का नहीं, मरने के बाद के दृश्य का। इन सबके बीच वो कुछ क्षण के लिए अपनी पत्नी को भूल जाते लेकिन समय के साथ तेज़ होती बदबू उन्हें कुछ भी भूलने नहीं दे रही थी।

उनकी अलमारी में कई ब्राण्ड के परफ़्यूम रखे हुए थे पर शायद ये बात उन्हे अब याद नहीं रह गई थी, हालांकि कल तक वो कई परफ़्यूम की शीशी का इस्तेमाल कर चुके थे। वो कुछ देर यूं ही सिर झुकाए बैठे रहे। वो उस वक़्त बहुत कम चीजें सोच पा रहे थे और वो भी बहुत धीमी रफ़्तार में बीमारी...मौत....बदबू....वसीयत....। उनके दिमाग़ में मानो किसी ने करंट का झटका दे दिया हो। उन्हे अपनी वसीयत का ख़्याल आया कि जिसे अभी तक लिखा ही नहीं था। क्यों नहीं लिखा था? शायद अभी अपनी मौत की उम्मीद नहीं थी। लेकिन इस समय उन्हे सबसे ज़रुरी काम वसीयत लिखना लग रहा था। अपने कंपकपाते हाथों से क़लम उठाया और डायरी के खुले पन्ने पर लिखने की कोशिश करने लगे। चेहरे से साफ़ ज़ाहिर हो रहा था कि सांस लेने में कितनी कठिनाई हो रही। हलक़ से ज़बह किए बकरे-सी आवाज़ अब लगातार आ रही थी। नाक बह-बहकर दामन पर गिर रही थी कि शायद जिसका उन्हे ज़रा-सा भी इल्म नहीं था या शायद ये बात उनके लिए अब कोई माइने नहीं रखती थी। वो अपने कांपते हाथों से डायरी के पन्नों पर बड़ी मुश्किल से बस "वसीयत नामा" लिख सके। इसके आगे कुछ भी लिखने की उनमें सकत बाक़ी नहीं थी लेकिन अपने दिमाग़ में वसीयत लिखते जा रहे थे–

"मैं सूर्य प्रताप सिंह अपने बेटे रॉबिन सिंह को वसीयत करता हूं कि वो अपने घर में गिद्धों को पाले, हर एक फ़र्द पर कम से कम दो गिद्ध, कहीं से भी लाए पर गिद्ध लाए और उनको पाले, गिद्ध के होने से लाशें बदबू नहीं करती....हमारे घर में गिद्ध की ज़रुरत है..गिद्ध....गिद्ध....गिद्ध...."

उनका सर भारी होने लगा, पलकें बंद होने लगीं गर्दन में अब इतनी ताक़त नहीं बची थी कि वो उनके भारी होते सर का बोझ और उठा सके। उनकी गर्दन डायरी पर ढुलक गई। वसीयतनामा के नीचे कोरे काग़ज़ पर अब उनका सर पड़ा था।

जिस वक़्त उनकी आंख खुली धूप खिड़की से होते हुए ठीक उनके चेहरे पर पड़ रही थी। पूरे कमरे में रौशनी फैली हुई थी लेकिन फिर भी काफ़ी देर तक उनकी आंखों के सामने अंधेरा छाया रहा। क़रीब दो मिनट बाद उन्हें कुछ चीज़ें धुंधली-सी दिखाई देने लगीं। तब सर उठाया। उनका पूरा मुंह राल से संधा हुआ था। उठते ही उन्हें फिर तेज़ बदबू का सामना

करना पड़ा। आज बदबू कल से कहीं ज़्यादा थी। पर इन सब बातों का उन्हें ज़रा-सा भी अंदाज़ा नहीं था, उन्हे कल की कोई बात याद नहीं थी बल्कि उन्हे अब कोई बात याद नहीं थी सिवाए एक शब्द के....गिद्ध....। लेकिन अगर वहां कोई और इन्सान होता तो वो ये बात ज़रुर समझ जाता कि आज बदबू कल से कहीं ज़्यादा है।

उन्हे अचानक मतिभ्रम हुआ कि किसी ने उनके घर में कोई बदबूदार चीज़ छोड़ दी है जिसकी वजह से उनके साफ़-सुथरे घर में मक्खियों और चीटियों ने डेरा डाल लिया है और उनकी बीवी आराम से अपने कमरे में लेटी सो रही है। उन्हे अपनी पत्नी के इस व्यवहार पर बड़ी कोफ़्त हुई। वो अपनी पूरी ताक़त का सहारा लेकर उठे और अपनी पत्नी के कमरे की तरफ़ बढ़ चले। उनके पैर अब उनके क़ाबू में नहीं थे। वो हर क़दम पर लड़खड़ाते पर किसी तरह ख़ुद को संभाल लेते। कमरा चार क़दम की दूरी पर ही था पर फिर भी वहां तक पहुंचने में उन्हे कम से कम दो मिनट तो लग ही गए। कमरे का दरवाज़ा खोलते ही ढेर सारे सड़े हुए गोश्त और पख़ाने की सी बदबू का एक तेज़ भपारा उनकी नाक से टकराया और उनके दिमाग़ में घर कर गया। उनका पूरा वजूद इस बदबू से भर गया। हलांकि इस बात का उन्हे बिलकुल भी अंदाज़ा नहीं हो पाया कि यहां कितनी बदबू है। अब उनमें कुछ भी सूंघने की सकत ख़त्म हो चुकी थी। इस बेपनाह बदबू या शायद बढ़ती कमज़ोरी की वजह से उनका सर इतना भारी हो गया कि अब एक पल भी उनसे खड़े होते नहीं बना और वो वहीं फ़र्श पर बहरा कर मुंह के बल गिर पड़े। काफ़ी देर यूं ही पड़े रहने के बाद जब हवास कुछ दुरुस्त हुए तब उन्होंने ग़ौर किया कि यहां बाहर से कहीं ज़्यादा फ़र्श चीटी-चीटों से पटा पड़ा है, हवा में मक्खियां भिनभिना रही हैं और काफ़ी चीटियां उनके जिस्म पर भी रेंग रहीं हैं। कुछ चीटियां उनके कान में भी घुस गई थीं लेकिन इस बात का शायद उन्हे अंदाज़ा नहीं लग पाया था इसीलिए उन्होंने चीटियों के इस दुस्साहस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं की।

उन्हें फिर मतिभ्रम हुआ कि उनकी पत्नी इस बदबूदार चीज़ को अपने बेड पर धरे आराम से लेटी सो रही है। वो रेंगते हुए बेड की तरफ़ बढ़ गए। बेड के पास पहुंचने पर उन्हे बड़ा ताज्जुब हुआ। वो समझ नहीं पा रहे थे कि ये बेड पर कौन पड़ा है। उनकी पत्नी तो हरगिज़ नहीं। वो इतनी मोटी कभी थी ही नहीं। फिर कौन? उन्होंने ग़ौर से लाश को पहचानने की कोशिश करनी शुरु की.... मानो किसी ने इंसानी खाल में हवा भर कर रख दिया हो, खाल जगह-जगह से फट चली थी...ख़ासतौर पर पेट की खाल...काली पड़ी खाल के अंदर की सफ़दे चरबी बाहर आने को बेताब-सी लग रही थी, नाख़ूनों ने खाल छोड़ दिया और नाख़ूनो के नीचे चीटियों ने अपना बसेरा बना लिया था। उन्होंने देखा कि एक चीटा लाश की नाभी से बाहर निकला और फिर झट नाभी में डुबकी लगा गुम हो गया, दाहिना हाथ किसी कुंदे (मोटी बेलनाकार लकड़ी) की तरह हवा में खड़ा हो गया था और हाथ की फटी खालों से कोई गाढ़ा तरल पदार्थ टप-टप टपक रहा था, होंठ किसी चिम्पैजी की तरह मोटे हो ऊपर को मुड़ गए थे और दांत सारे साफ़ नज़र आ रहे थे, बेहद मोटे और फैले नथुनों को ढेर सारी चीटियों ने अपना बिल बना लिया था। कुछ चीटे आंखों को पोखर समझ चारों तरफ़ से घेरे थे और दीदे और पुतलियों में अपने डंक गड़ा-गड़ाकर अपनी प्यास बुझा रहे थे। मक्खियों का एक बड़ा

झुरमुट टांगों के बीच बह आए मल पर अपना आधिपत्य जमाए हुए था। इस दृश्य को देखते ही उन्हे एक तेज़ उबकाई आई और उन्होंने ढेर सारी क़ै, जिसमे सिर्फ़ पानी ही पानी था, वहीं बिस्तर के किनारे पर कर दी और ख़ुद ज़मीन पर लुढ़क गए। हवा में गश्त करता मक्खियों का झुंड तेज़ी से उनकी क़ै पर टूट पड़ा। लाश के आस-पास रेगंती चीटियां भी उसकी ओर तेज़ी से बढ़ीं। मानो वो सब क़रीब चार दिन से एक ही स्वाद के भोजन से उकता गए हों अब उन सब का मन अपने मुह का ज़ाएक़ा बदलने का हो रहा था।

बाहर लॉबी में रखे मोबाइल की रिंग लगातार बज रही थी पर उन्हे कुछ ख़बर नहीं। उनकी उखड़ी-उखड़ी सांसें बड़ी मुश्किल से चल रही थीं। सीना बार-बार किसी पहाड़-सा उठता और फिर धम से गिर पड़ता। चेहरे से ख़ौफ़ साफ़ ज़ाहिर हो रहा था। ख़ौफ़ मौत का नहीं, वो मौत से कभी नहीं घबराए तो अब क्यों? ख़ौफ़ मौत के बाद के दृश्य का।

उन्हे फिर मतिभ्रम हुआ कि ये उनकी पत्नी की ही शरारत है उसने यहां इस लाश को लिटा दिया है और ख़ुद किसी दूसरे कमरे में आराम से लेटी सो रही है। वो तेज़ी से उठकर उस कमरे की तरफ़ जाना चाहते थे कि जहां उनके ख़्याल में उनकी पत्नी लेटी सो रही थीं। अपनी पूरी ताक़त से बग़ल में रखे ख़ाली आक्सीज़न सिलेंडर का सहारा ले उठने की कोशिश की पर शरीर ने साथ नहीं दिया। इस जद्दोजेहद में उनकी सांस और उखड़ गई, सांस लेना अब और मोहाल हो गया था। हाथ अभी भी हिल-डुल रहे थे पर पैर बिलकुल बेजान हो चले थे। अब उनके पास दो ही रास्ते रह गये थे या तो वो पूरी इज्ज़त के साथ मौत का स्वागत करें या पूरी हिम्मत के साथ अभी उससे और लड़ें। वो दिल से मौत का स्वागत करना चाहते थे पर लड़ना उनकी मजबूरी थी क्योंकि उनके हिसाब से उनकी पत्नी दूसरे कमरे में लेटी सो रही थी और अगर वो यहां मर गए तो इसकी ख़बर उनकी पत्नी को नहीं होगी, कभी नहीं होगी। और वो अपनी आरज़ू कभी पूरी न कर सकेंगे। उनकी आरज़ू थी कि उनका दम उनकी पत्नी की गोद में निकले। मोबाइल की रिंग नानस्टाप बजे जा रही थी। बड़ी जद्दोजहद के बाद वो बांए करवट लेने में सफल हो गए पर इस करवट लेने भर में उन्होंने अपनी सारी ऊर्जा ख़र्च कर दी थी। उनकी आंखों के सामने अंधेरा छाने लगा। वो बड़ी कोशिश कर रहे थे कि उनकी पलकें खुली रहें पर नाकाम.... वो नीम बेहोशी की हालत में थे कि उन्हे एक दृश्य दिखाई पड़ा कि–

वो किसी ऊंची चट्टान पर खड़े हुए हैं, और उनसे कुछ दूरी पर एक गिद्ध बैठा हुआ है। वो गिद्ध की तरफ़ तेज़ी से बढ़ते हैं। गिद्ध उन्हे देखकर हंसता है और वो भी आगे-आगे दौड़ने लगता है। गिद्ध को दौड़ता देख वो भी अपनी रफ़्तार तेज़ कर देते हैं। वो कभी गिद्ध के बिलकुल नज़दीक पहुंच जाते तो कभी मीलों पीछे रह जाते। ये रेस तब तक चलती रही कि जब तक वो उस चट्टान के किनारे पर नहीं पहुंच गए। गिद्ध हवा में अपने परों को फैलाए उनकी ओर मुह किए किसी मंझे हुए खिलाड़ी-सा खड़ा था। वो गिद्ध को लुभाने के लिए तरह-तरह के करतब करने लगे, तरह-तरह की आवाज़ें निकालते। गिद्ध उनकी ये हरकत देखकर ठहाके लगाता हंसी से लोट-पोट हो जाता। जब वो किसी सूरत गिद्ध को नहीं लुभा सके तो रुक गए, गिद्ध ने भी हंसना बंद कर दिया। कुछ देर दोनो एक दूसरे को बस घूरते

रहे।

लेकिन दूसरे ही क्षण उनके दाहिने हाथ में एक तेज़ धार का बड़ा-सा चाकू था। उन्होंने उस चाक़ू से अपना बायां हाथ काट डाला। फिर कटे हुए हाथ को उठाकर गिद्ध के सामने लहराते-उछालते रहे। लेकिन गिद्ध पर इसका कोई असर नहीं हुआ। वो बिलकुल शांत, गंभीर अवस्था में हवा में टंगा उनकी हरकत को देखे जा रहा था। ये सिलसिला काफ़ी देर तक चलता रहा। और जब उन्होंने देखा कि उनकी इस क़ुर्बानी का भी गिद्ध पर कोई असर नहीं हुआ तो उनके दाहिने हाथ से कटा हुआ बायां हाथ छूटकर नीचे गिर गया। निराशा से उनके कंधे लटक गए और सर नीचे को झुक गया।

अब गिद्ध ने अपने परों को फड़फ़ड़ाना शुरु किया और तेज़ी से उनकी ओर उड़ने लगा। इससे पहले कि वो अपना सर ठीक से ऊपर उठाते कि तेज़ी से आते गिद्ध ने अपनी चोंच उनके माथे में धंसा दी।

एक झटके से उनकी आंख खुल गई। सिर्फ़ पलकें हिलीं, पूरा शरीर अभी भी स्थिर पड़ा था। दरवाज़े पर ज़ोरों की ठक-ठक हो रही थी, डोर बेल लगातार बज रही थी, मोबाइल की रिंगटोन नानस्टाप बजे जा रही थी। उन्होंने सोचा कि आख़िर दरवाज़े पर कौन हो सकता है, उनके दिमाग़ में सिर्फ़ एक ही शब्द कौंधा...गिद्ध...उनके चेहरे पर हल्की सी सुकूनबख़्श मुस्कुराहट फैल गई। उनकी हथेलियां यूं फैलीं मानो वो पूरे सम्मान के साथ मौत का स्वागत करने को अब तैयार हैं....या शायद गिद्ध का।

❖

नये सामाजिक यथार्थ और हिंदी उपन्यास

(संदर्भः हृषीकेश सुलभ के उपन्यास 'अग्निलीक' और 'दाता पीर')

पंकज पराशर

हृषीकेश सुलभ हिंदी के ऐसे कथाकार हैं, जिनकी रचनाएँ पिछले तीन-साढ़े तीन दशक से मैं लगातार पढ़ता-गुनता रहा हूँ। उनके नाटकों के 'पठन' और मंचन दोनों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण से मेरी लंबी/गहरी वाबस्तगी रही है। इसलिए सन् 2019 में जब 'अग्निलीक' छपकर आया, तो कई कारणों से उनके इस 'पहले' उपन्यास को पढ़ने की मुझे गहरी उत्सुकता हुई! अव्वल तो यह कि सुलभ की कहानियाँ पढ़ते हुए यह महसूस होता रहा है कि उनके पास जीवन-जगत् के अनुभवों का एक बड़ा ख़ज़ाना है, जिसे बहुत किफ़ायतसारी से वह खर्च कर रहे हैं। उनकी बहुतेरी कहानियाँ अनेक घटनाओं, प्रसंगों, शैल्पिक चमत्कार और भाषा की बहुस्तरीयता से मुझे 'ओवरलोडेड' लगती थीं। कई कहानियाँ पढ़ते हुए तो ऐसा लगा– जैसे कहानियों को वह यकायक ख़त्म कर देते हैं! या यूँ कहिए कि पात्रों के स्वाभाविक विकास और बयान के 'विस्तार' को जबरन रोक देते हैं– शायद कहानी के विधागत दबाव के कारण! इसलिए जब उनकी कहानियाँ पढ़ता, तो कई बार यह कसक रह जाती कि अगर सुलभ उपन्यास लिखते, तो उनकी बहुत-सारी कहानियों को उसकी स्वाभाविक पूर्णता प्राप्त हो पाती! लेकिन यह सोचकर अक्सर मायूसी हाथ लगती कि वह रूसी कथाकार अंतोन चेखव और अमेरिकी कथाकार ओ हेनरी की तरह कहानियाँ लिखकर ही संतुष्ट हो लेते हैं! इसलिए जब 'अग्निलीक' के प्रकाशन की सूचना मिली, तो इस वज़ह से भी मेरे भीतर उत्सुकता जाग्रत हुई। यह देखना मेरे लिए बहुत संतोषप्रद था कि आख़िरकार उन्होंने अंतोन चेखव और ओ हेनरी की 'परंपरा' को भंग किया! किताब के रूप में आने से पहले इधर-उधर प्रकाशित 'अग्निलीक' के जिन अंशों को मैं पढ़ पाया था, उससे यह पता तो चलता था कि 'अग्निलीक' की कथा-भूमि छपरा-सीवान की ज़मीन है, जो अनेक राजनीतिक-सामाजिक कारणों से पिछले कई दशकों से देशभर में ख़बरों/चर्चाओं के केंद्र में रहा है! इसलिए छपरा-सीवान के जटिल और परतदार यथार्थ को सुलभ ने किस तरह पकड़ने और उसमें रमने की कोशिश की है, उसकी कामयाबी और नाकामयाबी को देखना कुछ कम दिलचस्प न होगा!

एक सहृदय पाठक के तौर पर जब हृषीकेश सुलभ के उपन्यास 'अग्निलीक' और 'दाता पीर' के 'पठन' से हम गुज़रते हैं, तो एक बड़ी और उदात्त रचना की तरह हिंदी उपन्यास की लंबी परंपरा याद आने लगती है। महान् कवियों की कविताओं में जैसे उस भाषा-साहित्य की परंपरा उस रचना की पृष्ठभूमि में बोलती हुई-सी नज़र आती है, उसी तरह एक बड़ी कथा-रचना में उस भाषा-परंपरा की महान् रचनाओं की स्मृतियों का क़दम-दर-क़दम एहसास होता है। जब हमने 'अग्निलीक' की कथा-भूमि की ज़मीनी हक़ीक़त से रू-ब-रू होकर सोचा किया, तो इस ज़मीन के तकरीबन सौ बरस पहले की हक़ीक़त और उसकी सांस्कृतिक स्मृतियों के इतिहास को लेकर मेरे भीतर अनयास एक तुलनात्मक विवेचन भी चलने लगा। यथार्थ का बदलता स्वरूप क्या उसी अनुपात में होता है, जिस अनुपात में समाज का स्वरूप बदल रहा या बदल चुका होता है? किसी ख़ास समय में हुए लेखक जब अपनी रचनाओं में अपने समय के यथार्थ को 'अपनी समझ' और 'अपनी राजनीति' के हिसाब से अंकित करते हैं, तो क्या समाजशास्त्रीय अध्ययनों से भी उस लेखकीय 'साँच' की गवाही मिलती है? या वह रचना महज गल्पकार द्वारा रचित एक 'गल्प' यानी गप्प-भर होकर अपने दायरे में सिमट जाती है?

सन् 2019 में प्रकाशित हृषीकेश सुलभ के उपन्यास 'अग्निलीक' की जो कथा-भूमि है, उसी कथा-भूमि के यथार्थ से वाबस्ता है, सन् 1926 में प्रकाशित आचार्य शिवपूजन सहाय का उपन्यास 'देहाती दुनिया'। इस उपन्यास में शिवपूजन जी घोषित करते हैं, 'मैं ऐसे ठेठ देहात का रहनेवाला हूँ, जहाँ इस युग की नई सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीज़ें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं– अज्ञानता का घोर अंधकार और दरिद्रता का तांडव नृत्य। वहीं पर मैंने जो कुछ स्वयं देखा सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों उसमें अंकित कर दिया है।' इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन की रीति-नीति, मानव व्यवहार, सामाजिक संबंध, बोली-बानी, व्यंग्य-विनोद, राग-द्वेष, दमन-शोषण, गीत-गान, कथाएँ, मुहावरे आदि तत्वों को बुना गया है। आगे इसकी रचना-प्रक्रिया के बारे में शिवपूजन जी कहते हैं, 'इसका एक शब्द भी मेरी कल्पना की उपज नहीं है। जैसा देखा, वैसा लिखा।' भाषा का प्रवाह भी ठेठ देहातियों-जैसा ही उपन्यास में मिलता है। इसमें गाँव के चबूतरे पर पूरे गाँव के जीवन का विमर्श चलता है–रामटहल सिंह और उसकी रखैल बुधिया का एक प्रसंग है, जिसमें रामटहल की ब्याहता पत्नी महादेई से बुधिया का झगड़ा होता है। ब्याहता के घर में होने के बाद भी बुधिया ठाठ से रामटहल के घर में रहती है। बुधिया तीन बेटियों को जन्म देने के बाद भी मनबहल सिंह के साथ चली जाती है। लेकिन वहाँ बुधिया का मोहभंग हुआ और वह सोहावन के घर चली गई। इस बीच बुधिया और रामटहल की बड़ी बेटी सुगिया का एक बूढ़े व्यक्ति के साथ अनमेल विवाह हो जाता है। अनमेल विवाह के एक प्रसंग में 'देहाती दुनिया' में कहा गया है, 'हाय रे राम! ताड़ बराबर कनिया का वर यही है? इसको तो वह अपने लहंगे में छिपा लेगी! यह उसका दूध पिएगा कि माँग भरेगा! धिया का अभाग है कि इस उमर में वर भी मिला तो ऐसा कि हाथ से धोती भी न पहिर सके!' ग्रामीण जनजीवन में वर्जित बातें भी इस अकुंठ भाव से कह दी जाती हैं, जिन्हें अभिजात वर्ग कहने

में संकोच करता है।

अब यहाँ सवाल यह उठता है कि हृषीकेश सुलभ के उपन्यास 'अग्निलीक' और 'दाता पीर' की चर्चा पर केंद्रित रहने की बजाए यहाँ शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' की चर्चा और उसके विवरण में जाने का भला क्या औचित्य है? 'अग्निलीक' की कथा-भूमि से तकरीबन एक सौ बरस पहले सन् 1926 के पराधीन और अविभाजित भारत के ग्रामीण जीवन का जो यथार्थ था, वह इस सौ बरस के वक्फे में बदले हुए स्वाधीन और विभाजित भारत में किस हद तक बदला? कितना यथावत है और कितना पहले से बदतर हुआ? 'अग्निलीक' को पढ़ते हुए मन के भीतर उठते हुए इसी तरह के अनेक प्रश्नों के संदर्भ में हिंदी उपन्यास के इतिहास की स्मृतियों से पाठकों का साबका पड़ता है। कमाल यह कि स्त्री-पुरुष संबंध, विवाहेतर संबंध, यौनिकता आदि के जिस स्वरूप से आँचलिकता के लिहाज से पहले उपन्यास कहे जा सकने वाले 'देहाती दुनिया' में पाठकों का साक्षात्कार होता है, तकरीबन उसी ग्राणीण जीवन यथार्थ से संबद्ध फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आँचल' में भी होता है। 'मैला आँचल' की कथा-भूमि मेरीगंज की महिलाएँ आर्थिक, सामाजिक और यौन-मामलों में अधिक स्वतंत्र हैं। सभी स्त्री-पात्र या तो काम-विसंगति की शिकार हैं या काम-उत्पीड़न की। इससे बाहर न उनकी कोई हस्ती है, न किसी तरह की कोई राजनीतिक-सामाजिक सक्रियता। उनका होना जैसे पुरुष पात्रों के होने को सिद्ध करने के लिए होता है। फुलिया अपना संबंध सहदेव मिसिर, खलासी जी या पैटमैन के साथ रखती है, बिना किसी कुंठा या अपराध-बोध के। जबकि नए महंत की दासी बनने के लिए रामपिरिया पंचायत को अंगूठा दिखा देती है। लेकिन 'मैला आँचल' में कई बार महिलाओं के यौन-व्यवहारों को लेकर एक पूर्वग्रह भी दिखता है, जो लेखक के इस समाज से बाहरी होने का संकेत देता है। वह सवर्ण टोलों में प्रचलित गप्पों का शिकार-सा दिखाई देता है। दलित महिलाओं की तुलना में सवर्ण महिलाओं की गुलामी सामंती समाज के अंधविश्वासी और कुरूप चरित्र के मुताबिक है। मसलन ब्राह्मण ज्योतिष अपनी पत्नी को सिर्फ इसलिए मरने देता है कि वह पर-पुरुष के सामने अर्द्धनग्न होकर अपना ऑपरेशन नहीं करवा सकती। राजपूत स्त्री उपन्यास में तभी दिखाई पड़ती है, जब हरगौरी की मृत्यु पर वह छाती पीट-पीटकर रोती हैं। फुलिया के यौन-जीवन के विपरीत कमली का गर्भधारण पूरे परिवार के लिए एक कलंक बन जाता है। तहसीलदार के ख़ानदान की इज़्ज़त ख़तरे में पड़ जाती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'अग्निलीक' और 'दाता पीर' में भी चूँकि स्त्री-संबंधों के ऐसे ही अनेक स्वरूप और अनेक परतों का अंकन हुआ है, इसलिए यह अनायास नहीं कि सुलभ के उपन्यासों से गुज़रते हुए हमें उस कथा-भूमि से संबद्ध हिंदी के इन उपन्यासों की याद आती रहती है।

'अग्निलीक' के स्त्री-चरित्रों में रेशमा, जसोदा, कुंती, रेवती, रामझरी, नबीहा, नाज़ बेगम, गुल बानो, मुन्नी बी-जैसी स्त्रियों में जो साहस और ख़ुदमुख़्तारी दिखाने की कोशिश लेखक ने की है। वह 'देहाती दुनिया' और 'मैला आँचल' में चित्रित कहीं पुरुषों की छाया, कहीं रखैल, तो कहीं दासिन के रूपों से अलग बदली हुई सशक्त स्त्री-चरित्र के रूप में आती हैं! मोटे तौर पर देखें तो 'अग्निलीक' की रेशमा और गुल बानो के आपसी हित एक-दूसरे से

टकराते हैं, जो प्रायः औरतों के बीच ईर्ष्या, कलह और संघर्ष के प्रमुख कारण बनते हैं। बाबा तुलसीदास ने भी इस प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए लिखा है, 'मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।' लेकिन यहीं हृषीकेश सुलभ की औपन्यासिक क्षमता और कुशल लेखकीय दृष्टि उभरकर सामने आती है। वह इस बारीक हक़ीक़त को लांघ करके दोनों स्त्रियों के दुःखों के साझेपन को उभारते हैं। उनके बीच बहनापे के भाव को रचना के केंद्र में लाने की कोशिश करते हैं! यहाँ 'अग्निलीक' के लेखक 'देहाती दुनिया' और 'मैला आँचल'– जैसी रचना से आगे के समय में बदलते स्त्री-चरित्र को पहचानते हैं, लेकिन जब वह स्त्री-देह के माँसल सौंदर्य का वर्णन करने लगते हैं, तो लगता है जैसे उनके भीतर फणीश्वरनाथ 'रेणु' परकाया प्रवेश कर जाते हैं।

महाकाव्यात्मक विस्तार को अपने भीतर समाये हुए 'अग्निलीक' का एक प्रसंग यहाँ देखें, "रेशमा की अधनंगी देह बिछावन पर कुहुक रही थी और पतिया मलिया में सरसों का तेल लिए उसे मालिश कर रही थी। संभोग-प्रिया रेशमा को अपनी देह से घिन आने लगी थी। गरभू पाँड़े ने उसकी देह को रौरव नरक में बदल दिया था। सोलह साल की उम्र में सत्तर साल का बूढ़ा पति दो साल तक उसकी देह को थूक और लार से नहलाता रहा, तब भी ऐसी घिन नहीं हुई थी अपनी देह से रेशमा को। चंदन तिवारी या पिंटू सिंह के साथ सोते हुए पल-छिन के लिए भी उसे अपनी देह से घिन नहीं आई।" (पृ.101)

अब इसी साल प्रकाशित उनके दूसरे उपन्यास 'दाता पीर' से यह प्रसंग देखें–

> "प्लास्टिक की बाल्टी से पानी निकाल अपनी देह पर डालती और ठंड से सिसकारी भरती। वह सिर्फ पेटीकोट पहने हुई थी। ऊपर की देह ख़ाली थी। उसकी गोरी-नंगी पीठ दिख रही थी। जब कभी घुटनों से छातियाँ दबतीं, उसकी पाँजर में चाँद के आधे-अधूरे दूधिया गोले उग आते। बड़ी ने जैसे ही पेटीकोट का इज़ारबंद ढीला किया, उसकी पीठ पर नदी की तरह उभरी गहरी रेखा नीचे आकर और गहरी होती हुई पत्थर की पटरी और उसके कूल्हों की खाई में लोप हो गई।" (पृ.9)

'दाता पीर' के आरंभ में सुलभ जी ने जिस शास्त्रीय सौंदर्यवादी दृष्टि से क़ब्रिस्तान में रहनेवाली, बेहद ग़रीबी की पैदावार अमीना के विकसित होकर निक़ाह की अंतहीन प्रतीक्षा में मुरझाते जा रहे सौंदर्य का वर्णन किया है, उसे पढ़कर बार-बार महाकवि कालिदास रचित 'कुमारसंभवम्' के आठवें और नवें सर्ग की याद आती है! कालिदास की दृष्टि में सबसे पहली आकर्षण की चीज़ रूप-सौंदर्य है, जिसका सबसे आगे बढ़ जानेवाला अभ्युदय नायक-नायिका के लिए यौवन में वसंत ऋतु में संभव होता है। सुलभ जी की सौंदर्य-दृष्टि और अनुपम वर्णन-शैली से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उन्होंने न केवल भारतीय क्लैसिक्स की महान् परंपरा का गहन अवगाहन किया है, बल्कि ऐसे वर्णनों के ख़तरे और उसके दौरान बरती जानेवाली सावधानियों से वह बख़ूबी वाक़िफ हैं। लेकिन हिंदी में कुछ ऐसे कूढ़मगज लोग भी हैं/रहे हैं, जिन्हें इस यथार्थ के वर्णन में लेखक के भीतर 'मर्दवादी लोलुपता' और 'पर्वर्टेड सुख का संधान' दिखाई पड़ता है! ऐसे नयनसुखों की विशेषता यह होती है कि जैसे

ही उनका साबका इस तरह के कुछ शब्दों से पड़ता है, तो उन शब्दों को सूँघते ही वह चंचल हिरण की तरह उछल पड़ते हैं—यूँ सूँघा और यूँ उछला! जबकि रेशमा के साथ थानेदार गरभू पाँड़े जिस वहशियाना तरीके से बलात्कार करता है, उसके कारण रेशमा की मनोदशा इस तरह की हो जाती है कि उसे अपनी ही देह से घिन आने लगती है। जबकि रेशमा अपनी यौनेच्छा दबाकर जीनेवाली दब्बू स्त्री नहीं है। इसलिए उसकी पृष्ठभूमि को संक्षेप में बताकर आगे बढ़ जाने के लिए लेखक 'संभोग-प्रिया' शब्द-युग्म का इस्तेमाल करता है, न कि कथित मर्दवादी लोलुपता के कारण!

पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों के लिए यौन-संबंध बनाने की इच्छा जाहिर करना जहाँ मर्दानगी का प्रतीक माना गया है, वहीं स्त्रियों के ऐसी इच्छा जाहिर करने पर उन्हें रंडी, छिनाल, बेशर्म, कलमुँही, वेश्या– जैसे अभद्र संज्ञा से पुकारा जाता है। मानो सेक्स पर सिर्फ पुरुषों का अधिकार है! हिंदी में लोगों को आज भी यह बात हज़म नहीं होती कि कोई स्त्री भला संभोग-प्रिया कैसे हो सकती है, क्योंकि इस मामले में अपनी पसंद को ज़ाहिर करने का हक़ तो उसे है ही नहीं! शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिकम्' की 'माटीगाड़ी' शीर्षक से पुनर्रचना करते हृषीकेश सुलभ के पास सौंदर्य को व्यक्त करनेवाली परंपरा की गहरी समझ और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से दीप्त मर्मभेदी दृष्टि है। इसी संदर्भ में 'अग्निलीक' का दूसरा प्रसंग देखें,'घाघरा के तट पर जब आलाप भरते लीला, पूरी पृथ्वी साँस रोककर सुनती। लीला शाह का कंठ स्वर सुन धूसर बलूही माटी के रंगमंच पर नाचती थी घाघरा। घाघरा के झर-झर बहते कज्जल जल का संगीत लीला शाह के स्वर से मिलकर तट के जीवन को स्पंदित करता। पृथ्वी और आकाश के सारे चर-अचर जसोदा के भाग्य को सराहते। अपने लीला के कंठ से झरते अमृत की धारा में जसोदा डूबती-उतराती रहती। कभी उसके होठों पर स्मित की चमक और आँखों में विस्मय की कौंध उभरती, तो कभी लीला की टीस भरी आवाज़ उसके भीतर उतरती और कलेजे में अनगिनत छेद कर जाती। फिर उसकी आँखों में मेघ बरसने लगते थे।' (पृष्ठ 37-38) क्योंकि जिस समाज की कथा लेखक लिखते हैं, वह समाज प्रेम-समर्थक या प्रेम जैसी भावना का उत्प्रेरक न होकर, प्रेम के विरुद्ध नफ़रत और षड्यंत्र करने वाला समाज है। इसलिए यह अकारण नहीं कि पूरे 'अग्निलीक' में प्रेम के विरुद्ध अनेक तरह की व्यूह रचना चलती रहती है। अकलू यादव सहित जिन चार पीढ़ियों के जीवन-कथा में प्रेम के अनेक रूप दिखाई देते हैं, उसमें नफ़रत और षड्यंत्र के कारण जसोदा से लेकर रेवती तक के विशाल समयांतराल में भी प्रेम की नियति और स्त्रियों के जीवन की गति कमोबेश वही नज़र आती है।

अकलू यादव की पत्नी जसोदा के अपूर्ण स्वप्न को उसकी पोती रेवती के स्वप्न तक ले जाकर लेखक एक महाकाव्यात्मक विस्तार देता है, वह स्त्री-मन के भीतर 'हाइबरनेट' हो चुके उस स्वप्न के अंकुरण तक जाता है, जिसकी असफलता एक टीस की तरह पाठक के भीतर बनी रह जाती है! यही नहीं कि जसोदा को इस जन्म में उसका प्रियतम लीला उसे नहीं मिलता, बल्कि इसमें एक स्त्री-पात्र कुंती भी है जिसकी क़िस्मत में मुचकुंद नहीं आता, अकलू पर सवारी करके वैधव्य-जीवन में कुछ जीवन-रस खींच लेनेवाली रामझरी को भी अकलू

नहीं मिलता और जसोदा की पोती रेवती को भी उसका प्रेमी मनोहर अंततः नहीं मिलता! यह अकारण नहीं कि असफल प्रेम के असह्य दुख-प्रांतर में लेखक को जहाँ भी जीवन-रस की ज़रा भी गुंजाइश नज़र आती है, तो उनकी भाषा काव्यात्मक हो जाती है! यहाँ फिर इस बात का ज़िक्र करना जरूरी लगता है कि ऐसे प्रसंग हिंदी कथा-साहित्य में क्लैसिक्स का दर्जा पा चुकी अनेक कहानियों की स्मृतियों में लेकर जाती हैं। 'अग्निलीक' की इन स्त्री पात्रों के असफल प्रेम और अंतहीन प्रतीक्षा को देखकर सूरदास की गोपियाँ याद आती हैं, फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'रसप्रिया' की रमपतिया, निर्मल वर्मा के 'परिंदे' की लतिका, मोहन राकेश रचित अविस्मरणीय चरित्र 'मिस पाल' याद आती रहती हैं, जिनके पतझड़-जैसे जीवन में सिवाए अंतहीन उदासी, दुःख और जीवन बीत जाने की प्रतीक्षा के अलावा और क्या है! इसलिए सुंदर का स्वप्न रचने की सुलभ जी की आकांक्षा अवकाश पाते ही मुरझा चुकी छुईमुई की पत्तियों की तरह फैलने लगती है! अकलू यादव की शादी के दृश्य को लेखक किस चित्र और रंगभाषा में रचते हैं, उसका यह एक नमूना देखिये, 'कच्चे बाँस के खंभों पर फूस की छाजन वाला मड़वा काँप रहा था। घाघरा के रेतीले तट पर उपजे कुश की डंठलें काँप रही थीं। अमरपुर के पंडित के मंत्र काँप रहे थे। रामआसरे यादव की वह जंघा, जिस पर कन्यादान के समय जसोदा बैठी थी, काँप रही थी। दसो दिशाएँ काँप रही थीं। बाबू-बाबू गुहारती रही जसोदा, पर बाबू ने नहीं सुना। भइया-भइया पुकारती रही जसोदा, पर भाइयों ने नहीं सुनी उसकी पुकार....और अकलू यादव ने एक चुटकी सेनुर जसोदा की माँग में भर दिया और जसोदा सदा-सदा के लिए परायी हो गईं।' (पृ.48) यह स्त्रियों के अपने सगे ही होते हैं, जो उसके प्रेम, उसकी खुशियों के फूल को रौंदकर कथित पितृसत्ता की इज़्ज़त को बचा लेने के दंभ में जीते चले जाते हैं। लीला के प्रेम से वंचित करके अकलू के खूँटे से बाँधकर जसोदा को परायी कर देनेवाले उसके अपने सगे ही तो थे!

रेवती के जीवन-संघर्ष के चित्रण से गुज़रते हुए अगर आपको दलित लेखिका कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' याद आए, तो हैरत न कीजिएगा। बकौल कौशल्या बैसंत्री, दलित महिलाएँ सामाजिक हिंसा और घरेलू हिंसा को एक साथ अपने ऊपर झेलती हैं। दलित महिलाओं पर होनेवाले अत्याचारों में दलित महिला को सरेआम नंगा घुमाना कोई नई बात नहीं है। सवर्णों द्वारा अपनी जातीय श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए दलित स्त्री की अस्मिता पर ऐसे ही हमले किए जाते रहे हैं। दुख तब होता है, जब उसके समाज के द्वारा भी उसके साथ ऐसा ही होता है। पितृसत्ता के अनेक दमन और उत्पीड़न को झेलकर जीवन के चौथेपन में पहुँच चुकी जसोदा की पोती रेवती जिन शब्दों में अपने प्रेमी मनोहर से अपने दुःख को बयान करती है, उसको देखकर स्त्री के दोहरे चिर-अभिशप्त मर्म तक पहुँच पाना मुमकिन हो सकता है, 'तुम नहीं समझ सकते मनोहर। तुम सिर्फ गरीबी से लड़ रहे हो। जाति से लड़ रहे हो। मैं एक लड़की हूँ और अपने से कई गुना ताकतवर हर जाति और धर्म के पुरुषों से लड़ रही हूँ। तुम्हारी दरिद्रता और जाति कुछ देर के लिए तुम्हारे मनोबल को तोड़ सकती है। पर मैं जिनसे लड़ रही हूँ, यह लोग बाबा, पिता, भाई या परिजन होते हुए भी मेरी पूरी ज़िंदगी को तबाह कर सकते हैं। मेरा लक्ष्य पहले भी आईएएस बनना नहीं था। आज भी

नहीं है। मैं जानती हूँ कि तुम्हारे मुकाबले पढ़ाई में बहुत पीछे हूँ। बस एक साध थी, तुम्हारे साथ पढ़ते रहने की साध। मेरा लक्ष्य तुम हो मनोहर। तुम और केवल तुम। तुम्हें पाने के लिए मेरी असली लड़ाई अब शुरू हो गयी है, मनोहर।' (पृ.243) 'अग्निलीक' में रेवती-जैसी तमाम स्त्रियों, मसलन रेशमा, जसोदा, कुंती, रेवती, रामझरी, नबीहा, नाज़ बेगम, गुल बानो, मुन्नी बी-जैसी स्त्रियों को दूसरों के साथ-साथ 'अपनों' से भी निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। इसलिए इस दोहरे अभिशाप से उबरकर जब कोई स्त्री अगर सशक्त होकर उभरती है, तो उसके जीवट और 'कुटज'-जैसी संघर्षशीलता का अनुमान किया जा सकता है।

हृषीकेश सुलभ चूँकि एक सफल नाटककार भी हैं, इसलिए आम कथाकार से अलग उनकी भाषा में चित्र और रंगभाषा का जो रचाव दिखाई देता है, उसके सहारे वह उपन्यास के तमाम पात्रों का सटीक अंकन करते हैं। 'अग्निलीक' के आरंभ में शमशेर साईं की हत्या से वह उपन्यास की शुरुआत करते हैं और मनोहर रजक की हत्या के बाद उपन्यास समाप्त हो जाता है। एक हत्या से शुरू होकर दूसरे हत्या में समाप्त होनेवाले 'अग्निलीक' का जो यह यथार्थ है, वह कथा की ज़मीन एक होने के बाद भी शिवपूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' के समाज के बेहद हिंसक और घोर मनुष्यविरोधी हो जाने की गवाही देता है। उन्होंने कुशलतापूर्वक यह दिखाया है कि जसोदा का रेवती में कैसे कायांतरण होता है। जिस प्रेम को वह नहीं पा सकी, उसके ब्याह में सब कुछ के 'काँपने' के बिंब से उपन्यासकार ने प्रेम के टूटे-बिखरे हुए किरचों का एक विराट-सा शब्द-चित्र खींचा है। जब जसोदा की पोती रेवती अपने प्रेमी की हत्या का समाचार सुनती है, तो इस समाचार को सुनकर रेवती की मनोदशा का लेखक ने जिन शब्दों में चित्रण किया है, उसे पढ़कर लगता है वह भाषा की आत्मा में पैबस्त सारी मार्मिकता और दुःख को खींचकर यहाँ उड़ेल देना चाहते हों, 'एक अनश्वर पुकार उसकी अस्थियों में, शिराओं के बहते रक्त में, माँस-मज्जा में चीख़ बनकर गूँज रही थी। अचानक उसे मनोहर दिखे। लीलाधर यादव के अँधेरे आँगन में खड़े थे मनोहर। आँगन के अँधियारे में खड़ी उसकी आजी जसोदा देवी का चेहरा उभर आया। तांबई गोराई वाले चेहरे पर उम्र की अनगिनत गहरी लकीरों वाला चेहरा। रेवती जब आजी का चेहरा याद करती थी, उसे इन्हीं लकीरों में नदियों की जलधाराएँ दिखती थीं। आज इन लकीरों में मटमैली रेत भरी थी। रेवती ने अँधेरे में हाथ बढ़ाकर अपनी आजी यशोदा देवी का चेहरा अपनी हथेलियों में भर लिया। एक विलाप स्वर फूटा, जो अग्निलीक की तरह धरती से आसमान की ओर ऊपर उठता गया।' (पृ.256)

'अग्निलीक' के विशाल कैनवस में फैले जीवनांचल में बहुत सारे पुरुष पात्र भी आते हैं, जो जसोदा, रेशमा, कुंती, रेवती, रामझरी, गुल बानो, नबीहा नाज़ और मुन्नी बी-जैसी चरित्र के तन, मन और जीवन को अनंत कष्ट और संघर्षों का आख्यान बना देते हैं। इनमें से कुछ अहम किरदार हैं, मुखिया लीलाधर यादव, सरपंच अकरम अंसारी, लीला साह, पिंटू सिंह, अकलू यादव, मुंशी दामोदर लाल, बिलट महतो, नौशेर साईं, बैगा सुनार, मंसूर मियाँ, सुजीत, मुचकुंद शर्मा, मनोहर रजक और अनिल माँझी। रेशमा जैसी ख़ुदमुख़्तार औरत और रेवती-जैसी स्त्री जो पटना में पढ़ी-लिखी है और पितृसत्ता की ताक़त और राजनीतिक सत्ता के शह-

मात से परिचित है। इसलिए कुछ प्रसंगों में इन चरित्रों का मौन या हालात से समझौतापरस्ती उस चरित्र की अस्वाभाविकता न होकर उसकी असहायता और निरुपाय मनोदशा को दिखाता है। मूल्य-निर्णय और खाँचेबंदी की आदी आलोचना अगर इसे उपन्यासकार की सीमा बताने लगे, तो आश्चर्य इसलिए भी नहीं करना चाहिए क्योंकि रचना को महज साहित्यिक दायरे में रखकर देखनेवालों की सीमा किसी रचना की सीमा अंततः नहीं हो सकती। जो बात इस उपन्यास के आख़िर तक नहीं खुलती है, वह यह है कि रेशमा देवली में जिस अकरम अंसारी से 'लटपटायी' हुई थी, वह शमशेर साईं की हत्या का अभियुक्त है! पर यह बात थोड़ी असहज करती है कि उपन्यास के अंत तक शमशेर साईं की हत्या की गुत्थी नहीं सुलझती है, जबकि इस हत्या की गुत्थी अगर सुलझ जाती तो देवली का सामाजिक ताना-बाना और कुछ पात्रों का विकास शायद कुछ अलग रूपों में हो सकता था। उसी तरह एक और बात थोड़ी खटकती है कि जिस सीवान के देहात को इस उपन्यास की कथा-भूमि बनाया गया है और उसमें कई दशकों के घटनाक्रम को समेटने की कोशिश में डकैती के बड़े रूप यानी माफियागिरी का यथार्थ कैसे आने से रह गया? जिस डकैती के धंधे की अकलू यादव के बहाने सुलभ जी ने बहुत विस्तृत और विश्वसनीय चित्रांकन किया है, उस अंचल में हत्या और आतंक के कई दशक अलक्षित कैसे रह गए? कभी किसी पात्र के मुँह से प्रसंगवश भी कई दशकों तक उस इलाके में पसरे भयावह आतंक के बारे में किसी तरह का कोई ज़िक्र न आना शायद एकाग्रता से अधिक पचड़े में न उलझने की उपन्यासकार की मनोवृत्ति भी हो सकती है!

इसी वर्ष (सन् 2022) प्रकाशित सुलभ जी का दूसरा उपन्यास 'दाता पीर' पटना शहर के उस जीवन के अनजाने परतों को हमारे सामने लाता है, जिस जीवन के यथार्थ से बहुतेरे लोग आजतक अनभिज्ञ हैं। बहुतेरे जब हम कह रहे हैं, तो इस बहुतेरे में मुस्लिम समाज के अशराफ़ यानी सवर्णों की बात भी हम कर रहे हैं, जो किसी को मिट्टी देने के लिए तो क़ब्रिस्तान जाता है, लेकिन दफ़्न किये गये मुर्दों के बीच क़ब्रिस्तान में रहकर क़ब्र खोदने को मज़बूर किरदारों को नहीं जानता। एक और पहलू देखें तो पिछले कुछ सालों में हमारे यहाँ हिंदू-मुसलमानों के बीच आपसी संवाद और एक-दूसरे को जानने की इच्छाशक्ति में बहुत कमी आयी है। जिसकी वज़ह से अधिकांश लोग मुस्लिम समाज की परेशानियों और जीवन-शैली से बहुत परिचित नहीं हैं। प्रेमचंद और प्रेमचंदोत्तर पीढ़ी के कुछ कथाकारों को अगर छोड़ भी दें, तो ग़ैर मुस्लिम समुदाय से आनेवाले कथाकारों की रचनाओं में मुस्लिम पात्र अब बहुत कम दिखते हैं। पटना के जिन इलाक़ों को 'दाता पीर' की कथा-भूमि बनाया गया है, उस इलाक़े से इन पंक्तियों के लेखक का भी गहरा जुड़ाव रहा है। 'दाता पीर' का एक प्रमुख पात्र साबिर अपने मामूँ के यहाँ जिस सुल्तानगंज इलाक़े में पहुँचता है, वह सुल्तानगंज आज भले ब्रास बैंड पार्टियों और ढोल-ताशे वालों के बैनरों से पटा हुआ दिखाई देता हो, लेकिन कभी इसी इलाक़े के त्रिपोलिया के हफ़्ताख़ाना में बी छुट्टन और बी रमजो-जैसी मशहूर तवाइफ़ों के गाये राग मारवा से शाम होती थी और महफ़िल बर्ख़ास्त होने से पहले राग हंसध्वनि से पटना शहर में रात गहराती थी! ज़ोहराबाई पटनेवाली और बड़ी कनीज़ के गानों से पटना सिटी के

मुहल्ले आबाद रहते थे। यही वह इलाका है जहाँ तन्नो बाई की तान सुनने के लिए क्या मौलवी, क्या पंडित सब लोग अपना काम-धाम छोड़कर महफ़िल में पहुँच जाते थे!

'दाता पीर' को पढ़ते हुए मैं फिर से उसी समय में पहुँच गया, जब अपनी पढ़ाई के दौरान एक मुसलमान परिवार का किरायेदार था। वहीं ईद-उल-फ़ितर की सेवई और बक़रीद के मटन में मिली मुहब्बत की गहराई और बेकली से मेरा साबका पड़ा था। 'दाता पीर' के फ्लैप पर यह सवाल उठाया गया है कि 'आधुनिक हिंदी साहित्य में मुस्लिम जनजीवन की उपस्थिति इतनी विरल क्यों है, और अगर उसका उल्लेख होता भी है, तो प्रायः सांप्रदायिकता-जैसे मसलों के साथ ही होता है।' जिसने भी यह लिखा है उसने इस मसले को अति सरलीकृत ढंग से देखने की कोशिश की है, जिससे उसके ज्ञान और अध्ययन की सीमा प्रकट होती है। यशपाल की कहानी 'परदा' मुस्लिम समुदाय के जीवन को आधार बनाकर लिखी गई एक ऐसी कहानी है, जिसमें कहीं कोई सांप्रदायिक झगड़े या तनाव का चित्रण नहीं है। अभी हाल में पंकज सुबीर की कहानी 'नया ज्ञानोदय' पत्रिका के दिसंबर 2018 अंक में 'मर नासपीटी' शीर्षक से छपी थी, जो बेहद मार्मिक और हिला देनेवाली कहानी थी। इस कहानी में मुस्लिम समुदाय के जीवन की कथा अति विश्वसनीय ढंग से कही गई है और उसमें कहीं कोई ज़िक्र सांप्रदायिकता का नहीं आता है। उसमें दो बहनों की आपसी जलन, पारिवारिक कलह और और ईर्ष्या को विषय बनाया गया है। मेरे कहने का लब्बोलुआब यह सच है कि ऐसी रचनाएँ कम हैं, लेकिन यह असत्य है कि ऐसी रचनाएँ 'विरल' हैं!

कई उपन्यास भी हैं, जिसका ज़िक्र यहाँ अवांतर विस्तार की तरफ लेकर जाएगा। ख़ैर, अब फिर से 'दाता पीर' की ओर लौटें। इसमें गया से पटना आकर बसे मुजाविरों और शहनाई बजानेवाले एक घराने की कथा है, जिसकी बहुत सारी परतें उपन्यास के उत्तरार्द्ध में जाकर खुलती हैं। 'अग्निलीक' की तरह यहाँ भी प्रेम मार्ग में बाधक और अपने ख़ानदान के कथित सम्मान के लिए अपने ही सगे-संबंधी सबसे बड़े बाधक बनकर खड़े होते हैं। इसमें स्मृतियों की कई पेंचदार गलियाँ हैं, जिनमें खानकाहों-दरगाहों-मज़ारों और पीर-फकीरों की कहानियों के इतने सिरे बिखरे हुए हैं कि बहुत सारे सिरे तो उपन्यास के अंत तक आकर ऐसे ही छूट जाते हैं। मौसीक़ी के सदियों पुराने सिलसिले हैं, जो इस कथा-भूमि के इस तवारीख़ की याद दिलाते हैं, जिसमें वक्त के इसराज पर आज भी राग मारवा की उदासी लिए पटना शहर में दबे पाँव शाम आती है! ग़ज़ब का रूपक यह है कि जिस शहर के आलीशान महलों-कोठियों-बँगलों से मुहब्बत ग़ायब हो रही है, उस शहर के क़ब्रिस्तान में प्रेम के बिरवे फूटते हैं और मुहब्बत में नाकाम एक पढ़ा-लिखा शख़्स घर-परिवार के मोह-माया को त्याग करके पीर-फ़क़ीर बन जाता है!

सुलभ जी कथा की ईमानदारी और अनुभूति की शुद्धता को लेकर इतने साकांक्ष हैं कि 'अग्निलीक' में जहाँ उन्होंने गाँव के अपने जीवनानुभवों और सामूहिक स्मृतियों को आधार बनाया है, वहीं 'दाता पीर' में अपनी कर्मभूमि पटना के लंबे अनुभवों को आख्यान में ढाला। उनके अनुभव के आकाश में कथा की विश्वसनीयता अपने शुद्धतम रूपों में दिखाई देती है। क़ब्रिस्तान में रहनेवाली रसीदन के परिवार में दो बेटियाँ हैं-अमीना और चुन्नी और एक बेटा

फजलू। क़ब्रिस्तान को अपना आशियाना बनाकर रहने की क्या तक़लीफें हैं, क्या सपने और क्या अरमान हैं, उनकी सोच, उनकी पूरी दुनिया कैसी है–इसको विस्तार से बयान करते हुए सुलभ जी ने शहर पटना के जिस जीवन को अपनी कथा-भूमि के रूप में चुना है, उस जीवन के बारे में मुस्लिम समुदाय के भी बहुत कम लोग जानते हैं। क़ब्र खोदने वाली रसीदन की मुहब्बत, सत्तार मियाँ द्वारा उसके शौहर को ठिकाने लगाने के बाद रसीदन को अपनी बीवी बना लेना, फिर रसीदन की बड़ी बेटी अमीना की जवानी पर गिद्ध दृष्टि डालना और अमीना के आशिक़ साबिर को तरह-तरह से धमकाना उसकी फितरत है। ऐसे काइयाँ पात्र सत्तार मियाँ के साये में जीते हुए रसीदन किसी तरह परिवार की गाड़ी खींचती है। इन्हीं दुश्वारियों के बीच अमीना और साबिर का प्रेम अंकुरित होकर पनपता है, जिसको ऐसी चित्र-भाषा में सुलभ जी ने बयान किया है कि उससे गुज़रते हुए लगता है कि जैसे सब कुछ आपकी आँखों के सामने घटित हो रहा है!

नहाते समय जिस अमीना की देहयष्टि का सजीव वर्णन लेखक ने किया है, वह अमीना जिस साबिर नाम के लड़के से मुहब्बत करती है, उसकी ज़िंदगी का एक बड़ा हिस्सा यतीम की तरह गुज़रा है। साबिर जब अपने मामूँ के यहाँ जाता है, तो उपन्यासकार ने किस तरह इस दृश्य को बयान किया है, यह देखना ख़ासा दिलचस्प है,'अमीना ने बहुत समझा-बुझाकर उसे भेजा था। वह सैकड़ों बार इस मोहल्ले में आया होगा। बकरों की खाल ख़रीदने के लिए वह पटना की सड़कों और गलियों में कई सालों से भटकता रहा है, पर उसके मन में कभी यह ख़्याल नहीं आया कि वह अपनी ननिहाल जाए या अपने बचपन के दोस्तों को खोजे। इन सबसे ग़ाफ़िल ही वह जीता रहा। वह सुल्तानगंज थाना के सामने खड़ा था। इसी के सामने था नोमान का घर। उसके घर के बगल से ही वह गली निकली हुई थी, जिसमें कहीं उसका घर था। सब कुछ कितना बदल गया है! नोमान का घर तो पहचान में ही नहीं आ रहा है हालाँकि इस घर की यादें साबिर के पास बची हुई थीं। अपना घर तो वह ढूँढ़ ही नहीं सकता। गली के भीतर एक भी खपरैल मकान नहीं बचा है। साबिर ने सोचा कि वह उस घर को ढूँढ़ कर भी क्या करेगा! किराए का मकान था। अपना होता तो! अपना तो सपना ही है।' (पृ.142) इसमें रसीदन की कथा संक्षेप में आयी है, लेकिन उसकी दोनों बेटियों अमीना और चुन्नी की कथा पर विस्तार से फोकस किया गया है। अमीना और चुन्नी दोनों अपनी माँ रसीदन के साथ मिलकर क़ब्र खोदकर ज़िंदगी बसर करती हैं। चुन्नी, कल्लू मियाँ के लड़के बबलू के इश्क़ में गिरफ़्तार है और अमीना साबिर से मुहब्बत करती है। फ़क़ीर बन चुके समद की दास्तान-ए-मुहब्बत भी बेहद दर्दनाक है। अपने साथ पढ़नेवाली लड़की जूबी से मुहब्बत करनेवाले समद का जूबी से निक़ाह नहीं हो पाता है। नाकाम मुहब्बत और ग़म-ओ-गुस्से के हालात में जूबी का इंतकाल हो जाता है। इस घटना के बाद दुनिया के कार्य-व्यापार से समद का मोहभंग हो जाता है। एक पढ़ा-लिखा और समझदार इंसान समद फ़क़ीरी की राह पर क़दम बढ़ा देता है। जहाँ तक दुनियावी रिश्ते-नाते की बात है, तो फ़क़ीर समद रिश्ते में रसीदन का भाई और अमीना और चुन्नी का मामूँ लगता है।

रसीदन और उसके कुनबे की कहानी के अलावा समद और उसकी प्रेम कहानी के

अतिरिक्त इसमें साबिर के बहाने शहनाई बजानेवाले एक ऐसे परिवार की कथा भी जुड़ती है, जिसका संबंध साबिर और मौसीक़ी की गहरी रवायत से जाकर जुड़ता है। नूर मंज़िल में रहने वाले साबिर के मामूँ फहीमबख़्श और ग़ुलामबख़्श नाना जहूरबख़्श और माँ मदीहा बानो का साबिर के पिता अलीबख़्श से मुहब्बत और शहनाईवादन की कथा इस उपन्यास की एक ऐसी दुखांत कथा है, जो साबिर और उसके मामूँ फहीमबख़्श के पूरे कुनबे के भीतर पुराने घाव की तरह टीस मारता रहता है, "अपनी बहन को जिस तरह दर-बदर भटकने के लिए उन लोगों ने छोड़ दिया और ग़ुरबत में जीने के लिए मजबूर किया, वह कहीं से इंसानियत नहीं थी। पाक परवरदिगार की नज़रों से कुछ भी छिपा नहीं होता। इसी नाइंसाफ़ी के चलते वे लोग आज एक ऐसी सियाहबख़्ती को बतौरे-सज़ा भुगत रहे हैं, जिससे आज़ाद हो पाना उनकी क़िस्मत में नहीं। बड़ी बहन का ब्याह ही नहीं हुआ। ऐसी नकचढ़ी रहीं कि अब्बा के ज़माने में जब-जब रिश्ता आया नकारती गईं। अब्बा के जाने के बाद भी रवैया नहीं बदला और देखते-देखते उम्र हाथ से फिसल गई। दोनों भाई एक औलाद के लिए तरसते हुए अब बूढ़े हो चले।" (पृ.153)

इस अपराध-बोध से साबिर के मामूँ-मूँमानी वगैरह इस तरह उबरने की कोशिश करते हैं कि यतीम और आवारा की ज़िंदगी जी रहे भांजे साबिर को अपनाते हैं और मौसीक़ी की तालीम देने लगते हैं। लेकिन एक फरहत बानो हैं, जिनकी देख-रेख में साबिर की अम्मी मदीहा बानो को दर-बदर होना पड़ा था, वह इस फैसले से खुश नहीं हैं। सुलभ जी की क़िस्सागोई की यह एक बड़ी ख़ासियत है कि वह हर पात्र के भीतर परकाया प्रवेश करने की कोशिश करते हैं और उसके हर पक्ष और मनोदशा की बारीकियों को लक्षित करने की पूरी ईमानदारी से कोशिश करते हैं। साबिर के अब्बा और उसके मामूँ की जुगलबंदी की कहानी से उसे यह पता चलता है कि "गाँधी मैदान में दशहरा के दिनों के प्रोग्राम में उनकी और अलीबख़्श की कई बार जुगलबन्दी हुई है। तब दोनों की तैयारियों के मस्ती भरे दिन थे। स्टेज पर लड़ने-भिड़ने का मज़ा ही कुछ और था। हुनरआश्ना लोगों के सामने अपने हुनर का जादू दिखाने की होड़ मची रहती थी, पर मन में ज़रा-सी भी जलन नहीं, आपसदारी पर कोई असर नहीं। अब्बा हुज़ूर और भाईजान, दोनों को खुली छूट दे देते और मुसकुराते हुए निहारते। प्रोग्राम के बाद हरेक तान और मुरकी पर बातें होतीं। एक बार स्टेज पर जाने से पहले ही अब्बा हुज़ूर की तबीयत बिगड़ गई। फ़हीम भाई परेशान हाल कि कैसे पार लगेगा। उस्ताद के बिना लोग सुनेंगे या नहीं, पर अलीबख़्श और उन्होंने साथ मिल कर ऐसी धूम मचाई कि लोग वाह-वाह कर उठे।" (पृ.153) मौसीक़ी की यह दृश्यावली रचते समय सुलभ जी आश्चर्यजनक रूप से रंग और चित्रभाषा लिखने में अपनी महारत को थोड़ी देर के लिए परे रख देते हैं और अचानक अपना 'मोड' बदलकर भाषा को काव्यात्मकता और सांगीतिकता से सराबोर करते हुए आगे बढ़ना तय करते हैं। जिसे देखकर आपको सुप्रसिद्ध कथाकार कृष्णा सोबती की कथा-भाषा याद न आए, यह नामुमकिन है। शुरुआती रचनाओं से लेकर उनके हशमतावतार लेने तक जो उनकी उर्दू-पंजाबी मिश्रित भाषा थी, वह 'समय सरगम' में आकर एकदम शुद्ध और तत्समप्रधान हिंदी में बदल जाती है! कहना न होगा कि हर बड़ा रचनाकार भाषा की एकरसता

को तोड़ता है और ख़ुद ही अपने भाषिक घेरे को तोड़ता रहता है। प्रसंगानुकूल भाषा लिखने में कोई ऐसा कमाल नहीं है कि हर लेखक यह नहीं कर सकता हो, कमाल इसमें हैं कि सुलभ जी भाषा, शब्दावली, वर्णन-शैली सबको रस और काव्य में सराबोर करते हुए प्रेम और सांगीतिक वातावरण रचते हैं!

कहने को 'दाता पीर' में और भी किरदार हैं, मसलन क़ब्रिस्तान के बाहर चाय की दुकान चलानेवाले राधे, ठेकेदार रामसकल शर्मा, मोहन विश्वकर्मा, मिठाई भंडार वाले भोजलाल साह, रामभजन तिवारी, छोटे सिंह, चुन्नी की प्रेमी बबलू, तौफ़ीक और मुन्ना सिंह यादव, लेकिन उपन्यास में बदलते हुए माहौल के बारे में तमाम संकेत देते जाने के बाद भी वह हिंदी के उपन्यासकारों द्वारा प्रचलित और आज़माये हुए तरीक़ों की तरह सांप्रदायिकता और ख़ुद को राजनीतिक रूप से सही दिखाये जाने के आग्रहों के साथ कथित प्रतिरोध के बने-बनाये फॉर्मूले में नहीं फँसते हैं। थोड़ी-बहुत गर्मा-गर्मी और बहसबाज़ी तक तो ठीक है, लेकिन पटना उत्तर प्रदेश के अनेक शहरों की तरह सांप्रदायिक घृणा में जीने वाला शहर कभी नहीं रहा। ग़रीबी औऱ मुफ़लिसी में जीनेवाली रसीदन और अमीना के जीवन में उस तरह का बदलाव नहीं आता, जिसकी अपेक्षा उपन्यास से गुज़रते हुए पाठकों को होती है, लेकिन इसका दूसरा पहलू ज़्यादा मार्मिक और सटीक है कि साल-दर-साल बीतते चले जाते हैं, लेकिन इन पात्रों के जीवन में कोई तब्दीली, कोई बेहतरी नहीं आती! क़ब्रिस्तान में मिट्टी खोदनेवाले किरदारों की ज़िंदगी बिना किसी बदलाव और बिना कोई सुख जाने कैसे ख़ाक में मिल जाती है, उस मुफ़लिसी और बेचारगी की दास्तान 'दाता पीर' का स्थायी है, जिसको किरदारों के स्वाभाविक विकास के बीच लेखक संगतकार की तरह पकड़कर रखता है! जो क़ब्रिस्तानी आलाप के बीच-बीच में कई बार इस तरह एक हूक बनकर उठता और शांत हो जाता है,

अब्र-ए-रहमत उनकी मरक़द पर गुहर-बारी करे
हश्र तक शान-ए-करीमी नाज़ बरदारी करे।

❖

उम्मीद की ज़मीन तैयार करने वाला उपन्यास

सूर्यनारायण रणसुभे

भारत के अन्य राज्यों की तुलना में हिंदी पट्टी में सामाजिक नवजागरण की अपेक्षा हिंदू नवजागरण ही अधिक हुआ है। (संदर्भ : वीर भारत तलवार की समीक्षा पुस्तक 'रस्साकशी') इन दो धर्मियों के बीच का संघर्ष भारतेंदु काल से ही शुरू हो जाता है और उसका चरम उत्कर्ष 1992 की बाबरी मस्जिद के विध्वंस के समय दिखता है। इस विध्वंस के पूर्व पूरी हिंदी पट्टी में रामशिला पूजन के नाम पर मुसलमानों के प्रति नफरत और द्वेष फैलाया जा रहा था और 2014 के बाद तो यह जहर हिंदी-पट्टी के बाहर भी फैलते जा रहा है। इस देश में जनतांत्रिक व्यवस्था का क्या होगा, इसका उत्तर शायद भविष्य में ही मिलेगा।

बिहार के भागलपुर शहर को केंद्र में रखकर 1980 से 1989 के बीच इस शहर में जो कर्बला घटित हुआ, गौरीनाथ ने उसका रोंगटे खड़े करने वाला चित्रण किया है। विशेष रूप से उपन्यास का वह अंतिम प्रकरण 'नरसंहार : खेल या कारोबार' पढ़ते हुए लगता है कि हम सभ्य कहलाने लायक हैं या नहीं? हमारी तथाकथित महान संस्कृति यही है क्या? इस संपूर्ण भयावह परिदृश्य को एक संवेदनशील युवक शिव और उसकी प्रेमिका जरीना के माध्यम से वे प्रस्तुत करते हैं।

भागलपुर के एक प्रतिष्ठित कॉलेज से बिहार के एक गांव का युवक शिव पहले इंटरमीडिएट फिर बी.ए. और इतिहास से एम.ए. करने के लिए निकला है। भागलपुर में वह पूरे 7 वर्ष रहा। बी.ए. में उसकी कक्षा में जितने भी छात्र-छात्राएं थीं उनका धीरे-धीरे एक गुट तैयार हो जाता है। इस गुट के सभी युवक-युवतियां बुद्धिमान, होनहार, संवेदनशील और धर्म जाति के परे जाकर मानवता को ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य मानने वाले हैं। विद्यार्थी परिषद के शब्दों में ये वामपंथी और नक्सली हैं। हालांकि उनका जुड़ाव किसी भी राजनीतिक पार्टी से नहीं है। उल्टे वे सभी राजनीतिक पार्टियों की सीमाओं को बताते हैं। राजनीतिक पार्टियों से अलग रहकर भी सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हुआ जा सकता है, ऐसी इन सब की मान्यता रही है। शिव और जरीना के अलावा मधु, सरफराज, सतबीर, प्रीति, रितेश, अनवर, नबेंदु और

रामनरेश इस ग्रुप में हैं। वे अलग-अलग जातियों और अलग-अलग धर्मों के हैं। सभी इसी सोच पर कायम हैं कि इस देश की आखिरी सीढ़ी पर बैठे हुए व्यक्ति को जीने के लिए आवश्यक सभी सुविधाएं मिलनी चाहिए। सभी को शिक्षा मिले। और इसके लिए जरूरी अवसर और सुविधाएं। उनकी यह सोच केवल किताबी नहीं है, वे अपने तईं कुछ करना चाहते हैं। इसी कारण वे भागलपुर के हाशिए में जी रहे लोगों के बच्चों के लिए रोज किसी पेड़ के नीचे या जहां जगह मिले वहां बैठकर पढ़ाने आदि के काम में भी लग जाते हैं।

मुसलमानों की एक व्याख्या की गई है कि मुफलिसी तेरा नाम मुसलमान! परिणामस्वरूप उनके ये केंद्र मुस्लिम बस्ती के आसपास ही शुरू हो जाते हैं। उसमें गरीब हिंदू के लड़के-लड़कियां भी आते थे। और यही बात अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के लिए गलत थी।

यहां उपन्यास की कथावस्तु बतलाना उद्देश्य नहीं है। 1980 से 92 के बीच हिंदू मुस्लिम में हुए दंगों को इन युवक-युवतियों की दृष्टि से यहां देखा गया है। जहां तक हो सकता था, इन दंगों का यथार्थ वर्णन करने का भरसक प्रयत्न हुआ है। इसके लिए भागलपुर दंगों को लेकर जितनी भी जांच समितियां गठित की गई थीं, उनका अधिक से अधिक उपयोग यहाँ किया गया है। शरद जायसवाल की पुस्तक 'भागलपुर राष्ट्रीय शर्म के 25 साल' का उपयोग भी किया गया है।

इन भयावह दंगों के बीच शिव और जरीना की प्रेम कहानी ठंडे सोतों की तरह बीच-बीच में आने लगती है। आरंभ में मुझे लगा कि उपन्यास धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता' की पंक्ति में तो नहीं बैठेगा? परंतु इन दोनों के प्रेम में रूमानियत या भावुकता के स्थान पर प्रखर बौद्धिकता और मनुष्य मात्र के प्रति छटपटाहट का स्पष्ट स्वर है। आरंभ में यह प्रेम कथा धीमी गति से शुरू होकर बाद मैं अधिक तीव्र होने लगती है। और कथावस्तु के केंद्र में दोनों के प्रेम की बजाय भागलपुर के दंगे और वहां के नरसंहार समग्रता में आ जाते हैं। यशपाल के 'झूठा सच' में भी असद और तारा के प्रेम का धीमा जैसा स्वर है। परंतु इन दोनों लेखकों ने प्रेम कथा को उपन्यास की मुख्य संवेदना पर हावी होने नहीं दिया है। 'झूठा सच' के पहले खंड में देश विभाजन के कुछ दिन पूर्व जो भयानक दंगे हुए, जिस तरह जवान स्त्रियों पर अत्याचार हुए, उन्हें पढ़ते समय संवेदनशील मनुष्य भीतर से दहल जाता है। मनुष्य के प्रति उसका विश्वास ही उठने लगता है। बावजूद इसके इन दोनों उपन्यासों में सहज मानवीयता से प्रेरित संघर्षरत जुगनू हैं। दोनों उपन्यासों की तुलना करना मेरा उद्देश्य नहीं है, क्योंकि दोनों के संदर्भ ही अलग हैं। दुःख इस बात का है कि 1947 से 1992, इन 44 वर्षों में यहाँ की प्रतिक्रियावादी, हिंदुत्ववादी शक्तियां कमजोर होने की बजाय दिन-ब-दिन अधिक शक्तिसंपन्न ही होती जा रही हैं। किसी भी देश की जनतांत्रिक व्यवस्था के सम्मुख धर्मांध लोग हमेशा खड़े हो जाते हैं।

इस पूरी प्रक्रिया में कानून और व्यवस्था जिनके हाथों में सौंपी गई हैं उनकी भूमिका कितनी खतरनाक होती जा रही है, इसका एहसास यह उपन्यास बार-बार कराता है। उनमें यह जो धर्मांधता फैल गई है, उसके मूल में जनतांत्रिक व्यवस्था के सूत्र जिनके हाथों में हैं, वे नेतागण दोषी हैं—इसे यहाँ प्रमाणों सहित स्पष्ट किया गया है। पार्टी कोई भी हो, उनके सारे गणित चुनाव से संबंधित ही होते हैं। और पुलिसकर्मियों में तभी तो हिम्मत आ जाती है जब उन्हें

ऊपर से दंगों के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित किया जाता है, मानवीय मूल्यों को पूरी तरह से नजरअंदाज करते हुए। शिकायतें कितनी भी कठोर हो, निर्णय लेने से अपने मतदाताओं पर इसका क्या परिणाम होगा, इस पर नेता सोचते रहते हैं। करीब 18 वर्ष न्यायाधीश पद पर रह चुकी मराठी की प्रसिद्ध लेखिका मृदुला भाटकर ने एक स्थान पर अपने अनुभव के बल पर लिखा है कि पुलिस जनता की मित्र भी हैं और शत्रु भी। उन्होंने यह नहीं लिखा कि वे किनके इशारे पर शत्रु या मित्र बनते हैं। यहां 'कर्बला दर कर्बला' उपन्यास में अनेक प्रमाणों द्वारा यह साबित किया गया है कि भागलपुर के दंगों के पीछे राजनीतिक नेताओं का दिमाग चल रहा था। नेता अपने कार्यकर्ताओं को कभी भी नाराज नहीं करना चाहते। कार्यकर्ता कितने भी जघन्न अपराध करे तो भी वे उसकी सहायता ही करते हैं।

इस देश में हिंदू-मुस्लिम दंगे बढ़ने या शुरू हो जाने के मूल में हिंदी क्षेत्र के करीब-करीब सभी पार्टियों के नेताओं की राजनीति मूल कारण रही है। इसे भी यहां अनेक प्रमाण द्वारा साबित किया गया है। दूसरा सच यह है कि यह पूरे भारत का सच नहीं है। दक्षिण-पूर्व-पश्चिम के (अपवाद गुजरात) प्रदेश इसके लिए अपवाद हैं। क्योंकि वहां ऐसे दंगे उकसाने का काम सिर्फ बीजेपी और उससे जुड़ी हिंदुत्ववादी संगठन करती हैं। कांग्रेस अथवा अन्य किसी भी पार्टी के नेताओं का रूप वहां वैसा नहीं है जैसा हिंदी पट्टी में है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इस तरह की समस्याएँ दक्षिण में कम हैं, उत्तर में अधिक। इसका एक महत्वपूर्ण आयाम 'अर्थ' भी है। कानून और सुरक्षा की जिम्मेदारी व्यवस्था ने जिन इकाईयों पर सौंपी है, उन्हीं में सांप्रदायिकता की वृत्ति हो तो स्थितियां कितनी क्रूर बन जाती हैं, इसका प्रमाण है यह उपन्यास। विभूति नारायण राय ने भी 'भारतीय पुलिस और सांप्रदायिकता' में इसे स्पष्ट किया है। जब इनकी और नेताओं की मिलीभगत हो जाती है तब मुस्लिमों पर क्या कहर बीतती है इसका जीवंत चित्रण यहाँ हुआ है। इस उपन्यास के कारण यह पता चला कि राजीव गांधी की आरएसएस के साथ कैसी मिलीभगत थी। और वे भी अपने निर्णय कैसे इन ताकतों के दबाव में आकर बदलते थे। यह यथार्थ हम हिंदीतर भाषियों के लिए एकदम नया है।

क्या स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में धर्मांधता अधिक होती है? इसका उत्तर देने की बजाय दोनों ओर की स्त्रियों में धर्मनिरपेक्षता और धर्मांधता दोनों प्रवृतियां समान रूप से होती है, इसे यहाँ स्पष्ट किया गया है। जैसे, जरीना के भाई ने एक मैथिल युवती प्रेरणा से विवाह किया है। इस मैथिल युवती की मां इसके लिए उसका खुलकर विरोध नहीं कर रही है। इसी प्रकार शिव का जरीना के साथ कभी विवाह होगा, यह बात शिव की मां जानती है परंतु वह विरोध नहीं करती है। पर शिव और प्रेरणा, दोनों घर के पिता इसके घोर विरोधी हैं। जबकि ज़रीना के पिता राजी हैं। इसका अर्थ स्त्री धर्म और धर्मांधता के परे गई है क्या? पर जरीना की मां इस विवाह के विरोध में है। मुस्लिमों पर अत्याचार करने के लिए हिंदू युवाओं को प्रेरित-प्रोत्साहित करने वाली हिंदू युवतियां भी यहां हैं। इसलिए इस वृत्ति पर स्त्री और पुरुष में कोई विशेष भेद नहीं है; इसे स्पष्ट तौर पर दर्शाया गया है। हिंदू धर्म का तथाकथित सहिष्णु स्वरूप अवसर मिलने पर कितना क्रूर, कितना बर्बर हो जाता है इसका प्रमाण यह उपन्यास है। देश-विभाजन की घटना के समय हुए अत्याचार और भागलपुर तथा गुजरात कांड के समय हुए अत्याचार इसके

प्रमाण हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस्लाम असहिष्णु है। प्रत्येक धर्म दर्शन के स्तर पर सहिष्णु ही होता है। सवाल है उसके अनुयायियों के आचरण का। समय और अवसर मिलने पर अनुयायियों के बीच का दरिंदा कैसे जीवित होता है, इसे यह उपन्यास प्रमाणित करता है। इसलिए हम ही सही हैं का नारा देने का कोई मतलब नहीं है। हमाम में सभी नंगे ही हैं।

भागलपुर तो एक प्रतीक है, इस देश के हिंदू मुस्लिम दंगों का। मुंबई में जो भयानक दंगा हुआ उसके संबंध में अत्यंत तटस्थता से श्रीकृष्ण आयोग ने रपट दी। इस रिपोर्ट के अनुसार आज तक किसी पर भी कोई कार्रवाई नहीं हुई है। देश के सभी हिस्सों में यही तो हो रहा है।

इस उपन्यास के दो केंद्र हैं, एक ओर भागलपुर शहर और वहां के हिंदू मुस्लिम बस्ती का जीवन और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के कारण उकसाए गए दंगे हैं, तो दूसरी ओर शिव और जरीना का प्रेम। वर्षों बाद हिंदी में इस प्रकार की सात्विक प्रेम कहानी को पढ़ने का अवसर मिला है। शिव और जरीना दोनों युवा हैं। बावजूद इस युवापन के उनके प्रेम में कहीं पर भी लिजलिजापन नहीं है। यह प्रेम वैचारिक और संवेदनात्मक स्तर का है। यहां शरीर की अपेक्षा महत्व है वैचारिक प्रतिबद्धता का। इस प्रेम की तुलना अमृता प्रीतम और इमरोज या अमृता प्रीतम और साहिर के प्रेम के साथ ही की जा सकती है। यह प्रेम पूर्णतः अशरीरी भी नहीं है। इसे छायावादी भाषा में आत्मिक प्रेम भी नहीं कहेंगे। दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित हैं, चरित्र की दृढ़ता के कारण निष्पापता के कारण। वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण और सहज संवेदनाओं के कारण। हालांकि दोनों को एकांत के कई क्षण मिलते हैं, पर कहीं पर भी ये दोनों असंतुलित नहीं होते। यहां लेखक की कुशलता जैसी है वैसी ही इन चरित्रों की चारित्रिक दृढ़ता भी। कई बार चरित्र लेखक की लेखनी से बाहर निकल जाते हैं; अपना स्वतंत्र अस्तित्व बताने लगते हैं। लेखक चाहें तो भी वे अपने स्तर को छोड़कर नीचे उतरना नहीं चाहते।

एक बात इस उपन्यास की भाषा को लेकर। उपन्यास की पूरी भाषा युवकों की भाषा है। बकौल भालचंद्र नेमाडे कि यह भाषा डैस डैस युवकों की इस भाषा में अंग्रेजी शब्दों की भरमार है। हिंदी पट्टी के शिक्षितों की भाषा का यह सच है।परंतु यह भारत के अन्य प्रदेशों के युवकों की भाषा का सच नहीं है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि हिंदी पट्टी के शिक्षित जन अंग्रेजी भाषा के इतने अधीन हो गए हैं कि वह अपनी भाषा के मूल, मौलिक और सुंदर शब्दों को खोते जा रहे हैं। महाराष्ट्र, उड़ीसा, कर्नाटक, तमिलनाडु, मलयालम, तेलुगु के युवकों की बोलचाल की भाषा में इतने अंग्रेजी शब्द नहीं आते। अपनी-अपनी भाषा के शब्दों का प्रयोग वे अधिकाधिक करते हैं। अगर उनकी भाषा में शब्द नहीं होगा तो वहां मजबूरी में वे अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं। परंतु हिंदी के शिक्षित नाते-रिश्ते के इतने सुंदर हिंदी शब्दों की जगह अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं। और कई बार यह बहुत हास्यास्पद भी लगता है। कई बार तो केवल सर्वनाम और क्रियावचन ही हिंदी के होते है, बाकी सब अंग्रेजी के। फादर का एक्सीडेंट हो गया है उन्हें हॉस्पिटल में एडमिट किया है! दिल्ली में मैं एक बार एक प्रकाशक की दुकान पर गया था, वहां वे नहीं थे। बाद में फोन पर मैंने कहा—आपकी दुकान पर मैं हो आया था, वहां शायद आपकी पत्नी बैठी थी। उन्होंने तुरंत कहा—नहीं, वह तो मेरी वाइफ है। हम अहिंदी भाषी गलती से भी फादर, मदर, अंकल, आंटी, फादर इन ला कभी भी नहीं कहते। क्योंकि इसके लिए हमारे

पास हमारी भाषा में समृद्ध ऐसी शब्दावली है। गौरीनाथ जी ने तो वह पात्र जैसा बोलते हैं वैसा दिखा दिया है। उनका दोष नहीं है। इन युवकों के मां-बाप का दोष है, अथवा आसपास के परिवेश का। इसी कारण तो दक्षिण के लोग कहते हैं जो अपनी भाषा ठीक से बोल नहीं पाते अथवा हिंदी शब्दावली का उपयोग नहीं करना चाहते, वह इस भाषा को देश की राज भाषा बनाने का सपना देख रहे हैं। यूँ वह संपर्क-भाषा तो बन चुकी है।

बावजूद इसके, यह भी सच है कि आज की हिंदी भाषा को रचनात्मक स्तर पर इतनी खूबसूरती के साथ लाने के लिए गौरीनाथ जी के प्रति कृतज्ञता ही व्यक्त करनी चाहिए। अंतिम कुछ बातें शिव और जरीना को लेकर। सच्चे प्रेम की सबसे बड़ी पहचान होती है, निर्भयता। निर्भयता दोनों ओर से है। यह निर्भरता ही है कि जरीना के घर जाकर उसकी अम्मी और अब्बू से रूबरू होते हुए शिव यह कहता है कि उसने जरीना को पत्नी के रूप में स्वीकार लिया है। इसके लिए बहुत बड़ी हिम्मत चाहिए और यह हिम्मत उसे प्राप्त है चारित्रिक दृढ़ता के कारण। ठीक इसी प्रकार वह अपने मां-बाप से भी यह बात नहीं छुपाता। इसके लिए चाहे जो कीमत चुकानी पड़े, वह उसके लिए तैयार है। अपने हमउम्र दोस्तों-सहेलियों के घर पर वे निर्भरता से आते-जाते हैं। उसे सभी ओर से जो आदर प्राप्त है, इसी निर्भयता और चारित्रिक दृढ़ता के कारण। जरीना में भी यही गुण हैं; इसीलिए तो वह भाई के साथ इंग्लैंड जाने का निर्णय लेती है क्योंकि वह बेसहारा हो चुकी है और परिवेश इतना विस्फोटक है कि वह शिव की प्रतीक्षा में रुक भी नहीं सकती। उसको खोज भी नहीं सकती। वह निकल जाती है इस विश्वास के साथ कि उसका शिव तू नहीं तो और सही वाला नहीं है। प्यार के इस नशे या विरह में शिव देवदास भी नहीं बनता। वह पूरी कर्मठता से पत्रकारिता की भूमिका निष्ठापूर्वक निभाते रहता है, जरीना की प्रतीक्षा करते हुए। यह प्रेम कहानी शुरू होती है खुले-सुहावने वातावरण में, बाद में सारा वातावरण जहरीला बन जाता है—फिर भी इन दोनों के भीतर कोई छल-दुराव नहीं आता।

इस उपन्यास की प्रासंगिकता महत्वपूर्ण है। इन दिनों हमारी शिक्षा नई पीढ़ी को और जहरीली बनाने के पक्ष में है। और किसी भी देश में जहर फैलाने के इतिहास का ही ज़्यादा उपयोग किया जाता है। चारों तरफ इतिहास का विकृतिकरण भी तेजी से शुरू हो चुका है। ऐसे समय में शिव और जरीना जैसी सोच वाले युवक-युवतियों की जरूरत इस प्रजातंत्र को बचाने के लिए बहुत जरूरी है। यह उपन्यास ऐसी सोच बनाने में महत्वपूर्ण साबित हो जाता है। इस उपन्यास के एक बंगाली प्रोफेसर मित्रा सर ने कहा है कि 'अदना इन्सान दूब की तरह जनोम लेगा'। इस देश का आम आदमी निश्चित ही इस देश के प्रजातंत्र को बचाएगा। इस पर हम सब का दृढ़ विश्वास है।

पुस्तक : कर्बला दर कर्बला (उपन्यास)

लेखक : गौरीनाथ

प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन प्रा. लि.

सी-56/यूजीएफ-4, शालिमार गार्डन एक्सटेंशन-2, गाजियाबाद-201005

❖

लेखकीय संपर्क –

शंकरानंद -	shankaranand530@gmail.com
शिवम तोमर -	shivam9753@gmail.com
असलम हसन -	aslamcustom@yahoo.co.in
अरुण जी -	arunjee@gmail.com
विशाखा मुलमुले -	vishakhamulmuley@gmail.com
प्रभात प्रणीत -	prabhatpraneet@gmail.com
अविनाश मिश्र -	darasaldelhi@gmail.com
आदर्शभूषण -	adarsh.bhushan1411@gmail.com
आदित्य अभिनव -	chummanp2@gmail.com
श्रीधर करुणानिधि -	shreedhar0080@gmail.com
जयन्त -	kumar.jayant808@gmail.com
प्रकाश चन्द्रायन -	prakashchandra14021950@gmail.com
कमलेश वर्मा -	kamleshvermajnu@gmail.com
आदित्य अभिनव -	chummanp2@gmail.com
श्यामल बिहारी महतो -	shyamalwriter@gmail.com
पंकज पराशर -	pkjppster@gmail.com
डॉ.चैताली सिन्हा -	chaitalisinha4u@gmail.com
फरजाना महदी -	mahdihusain32@gmail.com
कमलानंद झा -	jhakn28@gmail.com
विजय कुमार -	vijay1948ster@gmail.com
माधव राठौड़ -	msr.skss@gmail.com
जोशना बैनर्जी आडवानी -	jyotsnaadwani33@gmail.com
देवेंद्र चौबे -	devendrachoubryjnu@gmail.com
सफ़दर इमाम क़ादरी -	safdarimamquadri@gmail.com
डॉ. नारायण रणसुभे -	ransubhetoo@gmail.com

मगध

समाज, साहित्य, संस्कृति

जुलाई, 2022; वर्ष : 1; अंक : 2